बाँठिया ग्रन्थमाला सख्या १०

इन्द्रियाणि च सयम्य, कृत्वा चित्तस्य निग्रहम् ।
सस्पृशन्नात्मनात्मान, परमात्मा भविष्यसि ॥

इन्द्रियो का सयम कर, चित का निग्रह कर, आत्मा से ात्मा का स्पश कर इस प्रकार तू परमात्मा बन जाएगा ।

—सम्बोधि, अ० १६, श्लोक १८

●

प्रकाशक
सेठ चादमल बाठिया ट्रस्ट के ट्रस्टी
अधिकारी
पार्श्वनाथ जैन लाइब्रेरी, जयपुर

●

मुद्रक
मिश्रा एण्ड कम्पनी
१२, **ग्राण्ट लेन,**
कलकत्ता १

●

प्रथमावृत्ति
वि० स० २०१८

सम्बोधि

मुनि नथमल

अनुवादक :
मुनि मीठालाल

प्रकाशकीय

"सेठ चॉदमल बॉठिया ट्रस्ट" का एक ध्येय जैन दर्शन की विचारधारा को जनसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत करना भी है और मुनि श्री की कृति का यह प्रकाशन पाठको को जैन दर्शन का कुछ आलोक दे सकेगा, ऐसी आशा है ।

मुनि श्री नथमल जी, आचार्य श्री तुलसी के अन्यतम मेधावी शिष्यो मे से है और कुशल दार्शनिक, विचारक, लेखक व कवि भी। जो भी उनके या उनकी कृतियो के सम्पर्क मे आये है वे उनकी प्रतिभा से परिचित होगे। 'प्रत्यक्षे कि प्रमाण' की अपेक्षा से हमारा यही अनुरोध है कि मुनि श्री के बारे मे जानकारी करने के लिए जिज्ञासु पाठक उनकी रचनाओ का अवलोकन व मनन करे।

इस पुस्तक की तैयारी मे अनेक महानुभावो का जो अमूल्य सहयोग मिला है, हम उनके आभारी हैं।

आषाढ शुक्ला पूर्णिमा
वि स २०१८

प्रकाशक

卐

अपनी ओर से

यह स्याद्वाद ही तो है कि कोई नया ही नही होता और कोई पुराना नही होता। एक समय आता है, नया पुराना बन जाता है और एक समय आता है पुराना नया बन जाता है। यह ग्रन्थ न नया है और न पुराना। पुराना इसलिए नही है कि इसकी भाषा अर्धमागधी नही है, भगवान् की भाषा मे नही है। नया इसलिए नही है कि भावना और तत्त्वज्ञान मेरा अपना नही है, जो भगवान् ने कहा उसी का अनुवाद है। पुष्पो की सुरभि मे मालाकार का क्या होता है ? उसके लिए इतना भी बहुत है कि वह उनका चयन करे और एक धागे मे गूथ दे। आचार्य श्री तुलसी ने मुझे प्रोत्साहित किया और मै सहसा मालाकार बनने को चल पडा।

मालाकार का कार्य सर्वथा मौलिक नही है तो सर्वथा सहज भी नही है। योजना निर्माण से कम कठिन नही होती। उचित स्थान और समय पर योजित करने की दृष्टि सूक्ष्म चाहिए, पैनी चाहिए। मै अपनी दृष्टि को सूक्ष्म या पैनी मानू या न मानू, ये दोनो ही गौण प्रश्न है। प्रधान बात इतनी है कि एक निमित्त मिला और यह सकलन हो गया।

अनेक लोगो ने कहा—एक स्वाध्याय ग्रन्थ की अपेक्षा है जो न बहुत बडा हो और न बहुत छोटा, जिसमे जीवन की व्याख्या हो, जीवन का दर्शन हो। मै स्वय अनुभव करता था कि जैन परम्परा

के आधुनिक काल मे तत्त्वज्ञान के अध्ययन की ओर जितना ध्यान है, उतना जीवन-दर्शन के प्रति नही है। इसका परिणाम जितना चाहिए उतना इष्ट नही होता। जीवन-शोधन के लिए आग्रह नही होता, उस स्थिति मे तत्त्वज्ञान का आग्रह कही-कही दुराग्रह का रूप ले लेता है। अनाग्रह स्याद्वाद् का मूल-मत्र है पर जीवन-शोधन के बिना वह विकसित नही होता। विकार जो है वह सब मोह की परिणति है। दृष्टि-मोह से दर्शन विकृत होता है और चारित्र-मोह से आचार विकृत होता है। दृष्टि का विकार बना रहे उस स्थिति मे तत्त्वज्ञान आए तो क्या और न आए तो क्या? इसीलिए भगवान् ने कहा—दृष्टि सम्यक् हो—मोह क्षीण हो तो ज्ञान सम्यक् होता है, दृष्टि सम्यक् नही होती, मोह क्षीण नही होता तो ज्ञान भी सम्यक् नही होता। फलित की भाषा यह है कि ज्ञान के आलोक मे दृष्टि सम्यक् नही होती, दृष्टि के आलोक मे ज्ञान सम्यक् होता है।

सक्षेप मे इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य इतना ही है। विस्तार-दृष्टि से इसके १६ अध्याय है और ६४४ श्लोक है। आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, प्रश्नव्याकरण, दशाश्रुतस्कन्ध आदि आगमो से सार सग्रहीत कर मैंने इसका प्रणयन किया है। गीता-दर्शन मे ईश्वरार्पण की जो महिमा है वही महिमा जैन-दर्शन मे आत्मार्पण की है। जैन दृष्टि के अनुसार आत्मा ही परमात्मा या ईश्वर है। सभी आत्मवादी दर्शनो मे ध्येय की समानता है। मोक्ष या परमात्मपद मे चरम परिणति आत्मवाद का चरम लक्ष्य है। साधनो के विस्तार में जैन-दर्शन समता को सर्वोपरि स्थान देता है। सयम, अहिंसा,

सत्य आदि उसी के अङ्गोपाङ्ग हैं।

गीता का अर्जुन कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में क्लीव होता है तो सम्बोधि का मेघकुमार साधना की समरभूमि में क्लीव बनता है। गीता के गायक योगीराज कृष्ण हैं और सम्बोधि के गायक हैं भगवान् महावीर।

अर्जुन का पौरुष जाग उठा कृष्ण का उपदेश सुनकर और महावीर की वाणी सुन मेघकुमार की आत्मा चैतन्य से जगमगा उठी। दीपक से दीपक जलता है। एक का प्रकाश दूसरे को प्रकाशित करता है। मेघ ने जो प्रकाश पाया वही प्रकाश यहाँ व्यापक रूप में है। कभी-कभी ज्योति का एक कण भी जीवन को ज्योतिर्मय बना देता है।

इस ग्रन्थ का अनुवाद मुनि मीठालाल जी ने किया है। वह सहज, सरल और संक्षिप्त है। भगवान् का दृष्टिकोण बहुत ही सहज है पर जो जितना सहज है वह उतना ही गहन बन जाता है। यह गहराई उसका सहज रूप ही है, तैरने वाले को भले वह असहज लगे। गहराई को नापने के लिए विशद व्याख्या की अपेक्षा है। समय आने पर उसकी पूर्ति भी सम्भव है। मैं सरल संस्कृत लिखने का अभ्यासी नहीं हूँ पर इसके भाषा-सारल्य पर आचार्य श्री ने मुझे साश्चर्य आशीर्वाद दिया, इसे मैं अपने जीवन की सरलता का प्रकाश स्तम्भ मानता हूँ।

इसके आठ अध्याय मैंने आचार्य श्री की बम्बई-यात्रा के समय बनाए थे और आठ अध्याय बनाए कलकत्ता-यात्रा के समय। इस प्रकार दो महान यात्राओं के आलोक में इसकी रचना हुई है।

भगवान् की वाणी से मैंने जो पाया, उसे भगवान् की भावना में ही प्रस्तुत कर मैं अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ।

बीदासर
वि० सं० २०१६ चैत्र वदी २

—मुनि नथमल

卐

सम्बोधि

समर्पण

परम गुरु आचार्य श्री तुलसी चरणयो

यत करोमि यदर्हामि यद्वदामि लिखामि च ।
तत्तववेति तेनेद, तुभ्यमेव समर्पये ।।

कलकत्ता
वि स २०१६, कार्तिक शुक्ला २

मुनि नथमल

卐

ऐं ॐ स्व र्भू र्भुवस्त्रय्या, स्त्राता तीर्थङ्करो महान् ।
वर्धमानो वर्धमानो, ज्ञानदर्शन-सम्पदा ।।१।।
अहिंसामाचरन् धर्मं, सहमानः परीषहान् ।
वीर इत्याख्यया ख्यातः, परान् सत्त्वानपीडयन् ।।२।।
अहिंसा – तीर्थमास्थाप्य, तारयञ्जन-मण्डलम् ।
चरन् ग्राममनुग्रामं, राजगृहमुपेयिवान् ।।३।।

१–३. त्रिलोकी (स्वर्ग, भूमि और रसातल) के त्राता महान् तीर्थकर वर्धमान अहिंसा–तीर्थ की स्थापना करके, जन-जन को तारते हुए, एक गाव से दूसरे गाव मे विहार करते हुए राजगृही मे आए। वे ज्ञान और दर्शन की सम्पदा से वर्धमान हो रहे थे। उनका आचार था अहिंसा धर्म। वे किसी भी प्राणी को पीडित नही करते थे और आगन्तुक सभी कष्टो को सहन करते थे। वे वीर (महावीर) नाम से सुप्रसिद्ध थे।

नाना संताप-संतप्ताः, तापोन्मूलनतत्पराः ।
तमाजग्मुर्जना भूयः, सुचिरं शान्तिमिच्छवः ।।४।।

४ जो विभिन्न प्रकारके शारीरिक और मानसिक सन्तापो से सन्तप्त थे किन्तु उनका उन्मूलन करना चाहते थे और जो चिर-शाति के इच्छुक थे, वे लोग बार-बार भगवान् के पास आए।

श्रेणिकस्यात्मजो मेघो, भव्यात्माल्परजोमलः ।
श्रुत्वा भगवतो भाषा, विरक्तो दीक्षितः क्रमात् ॥५॥

५ महाराज श्रेणिक का पुत्र 'मेघ' भगवान् के पास आया । उसके कर्म और आश्रव (कर्म-बन्धन के हेतु) स्वल्प थे । वह भव्य था । उसने भगवान् की वाणी सुनी, विरक्त हुआ और अपने माता-पिता की स्वीकृति पाकर दीक्षा ली ।

कठोरो भूतलस्पर्शः, स्थानं निर्ग्रन्थ-संकुलम् ।
मध्येमार्गं शयानस्य, विक्षेपं निन्यतुर्मनः ॥६॥

६ पहली रात की घटना है कि तीन वस्तुओने उसके मन को चञ्चल बना दिया । एक तो भूमि का स्पर्श कठोर था दूसरी बात—उस स्थान मे बहुत बडी सख्या मे निर्ग्रन्थ थे और तीसरी बात—वह मार्ग के बीच मे सो रहा था । आते जाते हुए निर्ग्रन्थो के स्पर्श से उसकी नीद हवा हो रही थी ।

त्रियामा शतयामाऽभूत्, नानासकल्पशालिनः ।
निस्पृहत्व मुनीना तं, प्रतिपलमपीडयत् ॥७॥

७ उसके मन मे भाति-भाँति के सकल्प उत्पन्न होने लगे । उसके लिए वह त्रियामा (रात) शतयामा (सौ पहर जितनी) हो गई । विशेषत साधुओ का निस्पृहभाव उसे पल-पल अखरने लगा ।

चिरं प्रतीक्षितो रश्मि, रवेरुदयमासदत् ।
महावीरस्य सान्निध्य-मभजत् सोपि चञ्चलः ॥८॥

८ वह चिरकाल तक सूर्योदय की प्रतीक्षा करता रहा । रात

बीती और सूर्य की रश्मियाँ प्रकट हुईं। वह अस्थिर विचारों को लेकर भगवान् महावीर के पास पहुँचा।

विधाय वन्दनां नम्रः, विदधत् पर्युपासनाम्।
विनयावनतस्तस्थौ, विवक्षुरपि मौनभाक् ॥९॥

९ वह विनयावनत हो भगवान् को वन्दना कर उनकी पर्युपासना करने लगा। वह बोलना चाहता था फिर भी सकोचवश मौन था।

कोमलं भगवान् प्राह, मेघ ! वैराग्यवानपि।
इयता स्वल्पकष्टेन, कातरस्त्वमियानभूः ॥१०॥

१०. भगवान् कोमल शब्दों मे बोले—मेघ ! तू विरक्त होते हुए भी इतने थोडे से कष्ट से इतना अधीर हो गया ?

पश्य स्तिमितया दृष्ट्या, कष्टं तत्पौर्वदेहिकम्।
असम्यक्त्वदशायाञ्च, वत्स ! सोढं त्वया हि यत् ॥११॥

११ तू अपने मन को एकाग्र बना और स्थिर–शान्त दृष्टि से अपने पूर्वजन्म के कष्ट को देख। वत्स ! उस समय तू सम्यक्-दृष्टि नही था फिर भी तूने अपार कष्ट सहा था।

कथं मयाऽथ किं कष्टं, स्वीकृतं ब्रूहि तत् प्रभो ! ।
न स्मरामि न जानामी-त्यस्मि बोद्धुं समुत्सुकः ॥१२॥

१२ मेघ बोला—प्रभो ! मैंने क्या कष्ट सहा और कैसे सहा, वह न मुझे याद है और न मैं उसे जानता ही हूँ। प्रभो ! मैं उसे जानने को उत्सुक हूँ। आप मुझे बताएँ।

भगवान् प्राह सत्योक्ष, घटना पौर्वदेहिकी।
जातिस्मृति विना वत्स ! बोद्ध ुं शक्या न जन्तुभि ॥१३॥

१३ भगवान ने कहा—वत्स ! तू सच कहता है। जाति-स्मृति (वह ज्ञान जिससे पूव-जन्म की स्मृति हो सके) के बिना पूर्व-जन्म की घटना कोई भी प्राणी नही जान सकता।

ईहापोह विनैकाग्र्य, विना सा नैव जायते।
सस्कारा सञ्चिता गूढा, प्रादु स्युर्यत प्रयत्नत ॥१४॥

१४ ईहा (वितक) अपोह (निश्चय) और मन की एकाग्रता के बिना जातिस्मति-ज्ञान उत्पन्न नही होता। जो सचित और गढ सस्कार होते ह, वे प्रयत्न से ही प्रकट होते हैं।

मेरुप्रभाऽभिधो हस्ती, त्वमासी पूर्वजन्मनि।
विन्ध्यस्योपत्यकाचारी, विहारी स्वेच्छया वने ॥१५॥

१५ भगवान ने कहा—मेघ ! तू पूवजन्म मे मेरुप्रभ नाम का हाथी था। तू विध्य पवत की तलहटी के वन मे स्वच्छन्दता से विहार करता था।

व्यधा भयाद् वनवह्नि-र्मण्डल योजनप्रभम।
लब्धपूर्वानुभूतिस्त्व, दीर्घकालिकसज्ञित ॥१६॥

१६ उस समय तू समनस्क था। तुझे पूवजन्म की स्मति हुई। तूने दावानल से बचने के लिए चार कोस का स्थल बनाया।

घासा उत्पाटिता सर्वे, लता वृक्षाश्च गुल्मका।
अधारीभ सप्तशतै, स्थल हस्ततलोपमम् ॥१७॥

१७ तूने सात सौ हाथियो का सहयोग पाकर सब घास, लता,

पेड़ और पौधे उखाड़ डाले और उस स्थल को हथेली के तल जैसा साफ बना दिया।

एकदा वह्निरुद्भूत, आरण्याः पशवस्तदा।
निर्वैराः प्राविशंस्तत्र, हिंस्रास्तदितरे तथा ॥१८॥

१८ एक बार वहाँ दावानल सुलगा। उस समय जगल के हिंस्र और अहिंस्र सभी पशु आपस मे वैर छोड कर उस स्थल मे घुस आए।

यथैकस्मिन् बिले शान्ता निवसन्ति पिपीलिकाः।
अवात्सुः सकलास्तत्र, तथा वह्नेर्भयद्रुताः॥१९॥

१९ जैसे एक ही बिल मे चीटियाँ शान्त भाव से रहती हैं वैसे ही दावानल से डरे हुए पशु शान्त रूप से उस स्थल मे रहने लगे।

मण्डलं स्वल्पकालेन, जातं जन्तुसमाकुलम्।
वितस्तिमात्रमप्यासीन्, न स्थानं रिक्तमद्भुतम् ॥२०॥

२० थोडे से समय मे वह स्थल वन्य पशुओ से खचाखच भर गया। यह आश्चर्य था कि वहाँ वितस्ति (बालिश्त) जितना भी स्थान खाली नही रहा।

विधातु गात्र-कण्डूर्ति, त्वया पाद उदञ्चितः।
स्थानं रिक्तं समालोक्य, शशकस्तत्र संस्थितः ॥२१॥

२१ तूने अपने शरीर को खुजलाने के लिए एक पाँव को ऊँचा किया। तेरे उस पाँव के स्थान को खाली देखकर एक खरगोश वहाँ आ बैठा।

कृत्वा कण्डूयन पाद, दधता भूतले पुन ।
शशको निम्नगोऽलोकि, त्वया तत्त्व विजानता ।।२२।।
तदानुकम्पिना तत्र, न हत स्यादसौ मया ।
इति चिन्तयता पाद, त्वया सधारितोऽन्तरा ।।२३।।

२२–२३ खुजलान के बाद जब तू पाँव नीचे रखने लगा तब तूने वहा (पाँव से खाली हुए स्थान म) खरगोश को बैठ देखा। तू अहिंसा के तत्त्व को जानता था। तुझ मे अनुकम्पा (अहिंसा) का भाव जागा। खरगोश मरे पैर स कुचला न जाए —यह सोच तून पाँव को बीच म ही थाम लिया।

शुभेनाध्यवसायेन, लेश्यया च विशुद्धया।
ससार स्वल्पता नीतो, मनुष्यायुस्त्वयार्जितम ।।२४।।

२४ शभ अध्यवसाय (मन की सूक्ष्म परिणति) और विशुद्ध लश्या (मनोभाव) से तून समार–भ्रमण को स्वल्प किया और मनुष्य हान योग्य आयुष्य कम के परमाणुआ का अजन किया।

सार्द्धद्वयदिनेनाऽथ, दव स्वय शम गत ।
निर्धूम जातमाकाश-मभया जन्तवोऽभवन ।।२५।।

२५ ढाई दिनके बाद दावानल अपन आप शान्त हुआ। आकाश निर्धम हो गया और वे वन्य पशु निभय हो गए।

स्वच्छन्द गहने शान्ते, विजह्रु पशवस्तदा।
पलायित शशकोऽपि, रिक्त स्थान त्वयेक्षितम ।।२६।।

२६ अब वन्य पशु उस शान्त जगल म स्वतन्त्रतापूवक घूमने फिरने लगे। वह खरगोश भी वहाँ से चला गया। पीछ तूने वह स्थान खाली देखा।

पादं न्यस्तुं पुनर्भूमौ, सार्द्ध-द्वयदिनान्तरम् ।
स्तम्भीभूतं जड़ीभूतं, त्वया प्रयतितं तदा ॥२७॥

२७ ढाई दिन के पश्चात् तूने उस खम्भे की तरह अकडे हुए निष्क्रिय पाँव को पुन भूमि पर रखने का प्रयत्न किया।

स्थूलकायः क्षुधाक्षामः, जरसा जीर्ण-विग्रहः ।
पाद-न्यासे न शक्तोऽभूः भूतले पतितः स्वयम् ॥२८॥

२८ तेरा शरीर भारी भरकम था। तू भूख से दुर्बल और बुढापे से जर्जरित था। इसलिए तू पैर को फिर से नीचे रखने में समर्थ नही हो सका। तू लडखडा कर भूमि पर गिर पडा।

विपुला वेदनोदीर्णा, घोरा घोरतमोज्ज्वला ।
सहित्वा समवृत्तिस्तां, तत्र यावद् दिन-त्रयम् ॥२९॥

२९ उस समय तुझे विपुल, घोर, घोरतम और प्रज्वलित वेदना हुई। तीन दिन तक तूने उसे समभाव-पूर्वक सहन किया।

आयुरन्ते पूरयित्वा, जातस्त्वं श्रेणिकाङ्गजः ।
अहिंसा साधिता सत्त्वे, कष्टे च समता श्रिता ॥३०॥

३० तूने अहिंसा की साधना की और कष्ट मे समभाव रखा। अन्त मे आयुष्य पूरा कर तू श्रेणिक राजा का पुत्र हुआ।

अवशा वेदयन्त्येके, कष्टमर्जितमात्मना ।
विलपन्तो विषीदन्तः, समभावः सुदुर्लभः ॥३१॥

३१ कई व्यक्ति पहले कष्ट का अर्जन करते है, फिर जब उसे भुगतना पडता है तब वे विलाप और विषाद के साथ उसे भुगतने

है। व्यक्ति कर्म करने मे स्वतन्त्र होता है किन्तु उसका फल भुगतने मे परतन्त्र। हर एक के लिए समभाव सुलभ नही होता।

उदीर्णां वेदना यश्च, सहते समभावतः।
निर्जरां कुरुते कामं, देहे दुःखं महाफलम् ॥३२॥

३२ जो व्यक्ति कर्म के उदय से उत्पन्न वेदना को समभाव से सहन करता है उसके बहुत निर्जरा (कर्म क्षय जनित आत्म-शुद्धि) होती है। क्योकि शरीर मे उत्पन्न कष्ट को सहन करना महान् फल का हेतु है।

असम्यक्त्वी तदा कष्टे, नाभवो वत्स ! कातरः।
सम्यक्त्वी संयमीदानी, क्लीवोऽभूः स्वल्पवेदने ॥३३॥

३३ वत्स ! उस समय हाथी के जन्म मे तू सम्यक्दृष्टि नही था फिर भी कष्ट मे कायर नही बना। इस समय तू सम्यक्दृष्टि है और सयमी भी। फिर भी इतने थोडे से कष्ट मे क्लीव—सत्त्वहीन बन गया ?

मुनीना काय-सस्पर्श - प्रमिला-नाश-मात्रतः।
अधीरो मामुपेतोसि, सद्यो गन्तुं पुनर्गृहम् ॥३४॥

३४ साधुओ के शरीर का स्पर्श होने से रात को तेरी नीद नष्ट हो गई। इतने से ही तू अधीर हो गया और घर लौट जाने के लिए सहसा मेरे पास आ गया।

नाहं गन्तु समर्थोस्मि, मुक्ति-मार्गं सुदुश्चरम्।
यत्र कष्टानि सह्यानि, नानारूपाणि सन्ततम् ॥३५॥

३५ तूने सोचा—मुक्ति का मार्ग सुदुश्चर है। मैं उस पर

चलने मे समर्थ नही हूँ, जहाँ चलने वाले को निरन्तर नाना प्रकार के कष्ट सहन करने होते है।

सर्वे स्वार्थवशा एते, मुनयोऽन्यं न जानते।
भीमः सुदुश्चरो घोरो, निर्ग्रन्थानां तपोविधिः॥३६॥

३६ ये सब साधु स्वार्थी है, दूसरे की चिन्ता नही करते। निर्ग्रन्थो की तपस्या करने की विधि बडी भयकर, सुदुश्चर और घोर है।

युक्तोऽयं किमभिप्रायः, मोहमूलं विजानतः।
देहे मुग्धा जना लोके, नानाकष्टेषु शेरते॥३७॥

३७ मोह के मूल को जानने वाले के लिए क्या ऐसा सोचना ठीक है जैसा कि तूने सोचा है ? क्या तू नही जानता कि शरीर में आसक्ति रखने वाले लोग नाना प्रकार के कष्ट भोगते है ?

युक्त नैतत्तवायुष्मन्! तत्त्व वेत्सि हिताहितम्।
पूर्व-जन्म-स्थिति स्मृत्वा, निश्चलं कुरु मानसम्॥३८॥

३८ आयुष्मन्! तेरे लिए ऐसा सोचना ठीक नही। क्या हित है और क्या अहित—इस तत्त्व को तू जानता है। तू पिछले जन्म की घटना को यादकर अपने मन को निश्चल बना।

हन्त! हन्त! समर्थोऽयं-मर्थो यश्च त्वयोदितः।
मदीयो मानसो भावो, बुद्धो बुद्धेन सर्वथा॥३९॥

३९ मेघ बोला—भगवन्! आपने जो कुछ कहा, वह बिल्कुल सही है। आपने मेरे मन के सारे भाव जान लिए।

ईहापोहं मार्गणाञ्च, गवेषणाञ्च कुर्वता।
तेन जातिस्मृतिर्लब्धा, पूर्वजन्म विलोकितम् ॥४०॥

४० ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से मेघ को पूर्व-जन्म की स्मृति हुई और उसने अपना पिछला जन्म देखा।

मेघः प्राह—

त्वदीया देशना सत्या, दृष्टा पूर्वस्थितिर्मया।
सन्देहानां विनोदाय, जिज्ञासामि च किञ्चन ॥४१॥

४१ मेघ बोला—भगवन्! आपकी वाणी सत्य है। मैंने पूर्व-भव की घटनाएँ जान ली। मेरे मन में कुछ सन्देह है। उन्हें दूर करने के लिए आपसे कुछ जानना चाहता हूँ।

———

द्वितीय अध्याय

मेघ प्राह––

सुखानि पृष्ठतः कृत्वा, किमर्थं कष्टमुद्वहेत् ।
जीवन स्वल्पमेवैतत्, पुनर्लभ्यं नवाऽथवा ॥१॥

१ मेघ बोला––सुखो को पीठ दिखा कर कष्ट क्यो सहा जाए जबकि जीवन की अवधि स्वल्प है और कौन जाने वह भी फिर प्राप्त होगा या नही ?

भगवान् प्राह––

सुखासक्तो मनुष्यो हि, कर्तव्याद्विमुखो भवेत् ।
धर्मे न रुचिमाधत्ते, विलासाबद्धमानसः ॥२॥

२ भगवान् ने कहा––जो मनुष्य सुख मे आसक्ति रखता है और विलास मे रचा पचा रहता है वह कर्तव्य से पराङ्मुख बनता है। उसकी धर्म मे रुचि नही होती।

कर्तव्यञ्चाप्यकर्तव्यं, भोगासक्तो न शोचति ।
कार्याकार्यमजानाना, लोकश्चान्ते विषीदति ॥३॥

३ भोगो मे आसक्त रहने वाला व्यक्ति कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के बारे मे सोच नही पाता। कर्तव्य और अकर्तव्य को नही जानने वाला व्यक्ति अन्त मे विषाद को प्राप्त होता है।

मेघः प्राह––

सुखं स्वाभाविकं भाति, दुःखमप्रियमङ्गिनाम्।
तत् किं दुःखं हि सोढव्यं, विहाय सुखमात्मनः ॥४॥

४ मेघ बोला––प्राणियों को सुख स्वाभाविक लगता है, प्रिय लगता है और दुःख अप्रिय। तब सुख को ठुकरा कर दुःख क्यों सहा जाए?

भगवान् प्राह––

यत् सौख्यं पुद्गलैः सृष्टं, दुःखं तत वस्तुतो भवेत्।
मोहाविष्टो मनुष्यो हि, सत्तत्त्वं नहि विन्दति ॥५॥

५ भगवान् ने कहा––जो सुख पुद्गल जनित है वह वस्तुतः दुःख है, किन्तु मोह से घिरा हुआ व्यक्ति इस सही तत्त्व तक पहुँच नहीं पाता।

दृष्टिमोहेन मूढोऽयं, मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते।
मिथ्यात्वी घोरकर्माणि, सृजन् भ्राम्यति संसृतौ ॥६॥

६ दर्शन-मोह (दृष्टि को मूढ बनाने वाला) से मुग्ध मनुष्य मिथ्यात्व की ओर झुकता है और मिथ्यात्वी घोर कर्म का उपार्जन करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है।

मूढश्चारित्रमोहेन, रज्यति द्वेष्टि च क्वचित्।
रागद्वेषौ च कर्माणि, स्रवतस्तेन संसृतिः ॥७॥

७ चारित्र-मोह (चरित्र को विकृत बनाने वाला) से मुग्ध मनुष्य कहीं राग करता है और कहीं द्वेष। कर्म, राग और द्वेष से आत्मा में प्रवाहित होते हैं और उनसे जन्म-मरण की परम्परा चलती है।

यथा च अण्डप्रभवा बलाका, अण्डं बलाकाप्रभवं यथा च ।
एवञ्च मोहायतन हि तृष्णा, मोहश्च तृष्णायतनं वदन्ति ।।८।।

८ जैसे बगली अंडे से उत्पन्न होती है और अंडा बगली से, उसी भाँति मोह का उत्पत्ति-स्थान तृष्णा है और तृष्णा का उत्पत्ति-स्थान मोह।

द्वेषश्च रागोऽपि च कर्मबीजं, कर्माऽथ मोहप्रभवं वदन्ति ।
कर्माऽपि जातेर्मरणस्य मूल, दु:ख च जाति मरण वदन्ति ।।६।।

६ राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मल है। तीर्थंकरो ने जन्म-मरण को दु:ख कहा है।

दु:ख हत यस्य न चास्ति मोहो, मोहो हतो यस्य न चास्ति तृष्णा ।
तृष्णा हता यस्य न चास्ति लोभो, लोभो हतो यस्य न किञ्चनास्ति।१०।

१० जिसके मोह नही है उसने दु:ख का नाश कर दिया, जिसके तृष्णा नही है उसने मोह का नाश कर दिया, जिसके लोभ नही है उसने तृष्णा का नाश कर दिया और जिसके पास कुछ भी नही है उसने लोभ का नाश कर दिया।

द्वेषञ्च रागञ्च तथैव मोह-मुद्धर्तुकामेन समूलजालम् ।
ये ये ह्युपाया अभिषेवणीया-स्तान् कीर्तयिष्यामि यथानुपूर्वम् ।।११।।

११ राग, द्वेष और मोह का मूल सहित उन्मूलन चाहने वाले मुनि को जिन जिन उपायो को स्वीकार करना चाहिए उन्हे मै क्रमश. कहूँगा।

रसाः प्रकामं न निषेवणीयाः, प्राप्ता रसा दृप्तिकरा नराणाम् ।
दृप्तञ्च कामा समभिद्रवन्ति, द्रुमं यथा स्वादु-फलं विहङ्गाः ॥१२॥

१२ रसो (विषयो) का अधिक सेवन नही करना चाहिए। रस मनुष्य की धातुओ को उद्दीप्त करते है। जिसकी धातुए उद्दीप्त होती है उसे विषय सताते है, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी।

यथा दवाग्निः प्रचुरेन्धने-वने, समारुतो नोपशम ह्युपैति ।
एवं हृषीकाग्निरनल्पभुक्ते, न शान्तिमाप्नोति कथञ्चनापि ।।१३।

१३ वन इन्धनो से भरा हो, हवा चल रही हो, वहाँ सुलगी हुई दावाग्नि जैसे नही बुझती उसी प्रकार ठूस-ठूस कर खाने वाले की इन्द्रियाग्नि—कामाग्नि शान्त नही होती। इसलिए ठूस-ठूस कर खाना किसी भी ब्रह्मचारी के लिए हितकर नही होता।

विविक्तशय्याऽसनयन्त्रिताना-मल्पाशनाना दमितेन्द्रियाणाम् ।
रागो न वा धर्षयते हि चित्तं, पराजितो व्याधिरिवौषधेन ।।१४।।

१४ जो एकान्त बस्ती मे रहने के कारण नियन्त्रित है, जो कम खाते है और जो जितेन्द्रिय है उनके मन को राग रूपी शत्रु वैसे पराजित नही कर सकता जैसे औषध से मिटा हुआ रोग देह को पीडित नही कर पाता।

कामानुगृद्धि-प्रभव हि दुःख, सर्वस्य लोकस्य सदेव तस्य ।
यत् कायिकं मानसिकञ्च-किञ्चि, त्तस्यान्तमाप्नोति च वीतराग.।१५

१५ सब जीवो और क्या देवताओ के भी, जो कुछ कायिक और मानसिक दु ख है वह विषयो की सतत अभिलापा से उत्पन्न होता

है। वीतराग उस दुःख का अन्त कर देता है।

मनोज्ञेष्वमनोज्ञेषु, स्रोतसां विषयेषु यः।
न रज्यति न च द्वेष्टि, समाधिं सोऽधिगच्छति ।।१६।।

१६ मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों मे जो राग और द्वेष नही करता वह समाधि (मानसिक स्वास्थ्य) को प्राप्त होता है।

स्पर्शा रसास्तथा गन्धा, रूपाणि निनदा इमे।
विषया ग्राहकाण्येषामिन्द्रियाणि यथाक्रमम् ।।१७।।
स्पर्शनं रसनं घ्राणं, चक्षुः श्रोत्रञ्च पञ्चमम्।
एषां प्रवर्तकं प्राहुः, सर्वार्थग्रहणं मनः ।।१८।।

१७–१८ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द—ये पाच विषय है और इनको ग्रहण करने वाली क्रमश ये पाच इन्द्रिया है—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इन पाचो इन्द्रियो का प्रवर्त्तक और सब विषयो को ग्रहण करने वाला मन होता है।

न रोद्धुं विषयाः शक्या, विशन्तो विषयिव्रजे।
सङ्गो व्यक्तोऽथवाव्यक्तो, रोद्धुं शक्योस्ति तद्गतः ।।१९।।

१९ स्पर्श, रस आदि विषयो का इन्द्रियो के द्वारा जो ग्रहण होता है उसे नही रोका जा सकता, किन्तु उनके द्वारा होने वाली स्पष्ट या अस्पष्ट आसक्ति को रोका जा सकता है।

अमनोज्ञा द्वेषबीजं, रागबीजं मनोरमाः।
द्वयोरपि समः यः स्याद्, वीतरागः स उच्यते ।।२०।।

२० अमनोज्ञ विषय द्वेष के बीज हैं और मनोज्ञ विषय राग के।

जो दोनो मे सम रहता है--राग-द्वेष नही करता, वह वीतराग कहलाता है।

विषयेष्वनुरक्तो हि, तदुत्पादनमिच्छति।
रक्षणं विनियोगञ्च, भुञ्जंस्तान् प्रतिमुह्यति ॥२१॥

२१ विषयों में जो अनुरक्त है वह उनका उत्पादन चाहता है। उनके उत्पन्न होने के बाद वह उनकी सुरक्षा चाहता है और सुरक्षित विषयों का उपभोग करता है। इस प्रकार उनका भोग करने वाला एक मूढ़ता के बाद दूसरी मूढ़ता का अर्जन कर लेता है। यह 'कडेण मूढो पुणो त करेइ' का सिद्धान्त है। जो अपने कृत दुराचार से मूढ होता है वही बार-बार उस दुराचार का सेवन करता है।

उत्पाद प्रति नाशो हि, निधिं प्रति तथा व्यय.।
क्रियां प्रत्यक्रिया नाम, साशय लघु धावति ॥२२॥

२२ उत्पाद के पीछे नाश, सग्रह के पीछे व्यय और क्रिया के पीछे अक्रिया निश्चित रूप से लगी हुई है।

अतृप्तो नाम भोगाना, विगमेन विषीदति।
अतृप्त्या पीडितो लोक, आदत्तेऽदत्तमुच्छ्रयम् ॥२३॥

२३ अतृप्त व्यक्ति भोगो के नाश होने से दुख पाता है और अतृप्ति से पीडित मनुष्य अदत्त लेता है--चोरी करता है।

तृष्णया ह्यभिभूतस्य, अतृप्तस्य परिग्रहे।
माया मृषा च वर्धेते, तत्र दुःखान्न मुच्यते ॥२४॥

२४ जो तृष्णा से अभिभूत और परिग्रह से अतृप्त होता है उसके

कपट और झूठ बढते हैं। इस जाल मे फँसा हुआ व्यक्ति दु ख से मुक्त नही होता।

पूर्वं चिन्ता प्रयोगस्य, समये जायते भयम्।
पश्चात्तापो विपाके च, मायाया अनृतस्य च ।।२५।।

२५ जो माया और असत्य का आचरण करता है उसे उनका प्रयोग करने से पहले चिन्ता होती है, प्रयोग करते समय भय और प्रयोग करने के बाद पश्चात्ताप होता है।

विषयेषु गतो द्वेषं, दुःखमाप्नोति शोकवान्।
द्विष्ट-चित्तो हि दु खानां, कारणं चिनुते नवम् ।।२६।।

२६ जो विषयो से द्वेष करता है वह शोकातुर होकर दु ख पाता है। द्वेष-युक्त मन वाला व्यक्ति दु ख के नए कारणो का सचय करता है।

विषयेषु विरक्तो य., सः शोक नाधिगच्छति।
न लिप्यते भवस्थोपि, भोगैश्च पद्मवज्जलैः ।।२७।।

२७ जो विषयो से विरक्त होता है वह शोक को प्राप्त नही होता। वह ससार मे रहता हुआ भी पानी मे कमल की तरह भोगो से लिप्त नही होता।

इन्द्रियार्था मनोर्थाश्च, रागिणो दुःख-कारणम्।
न ते दुःखं वितन्वन्ति, वीतरागस्य किञ्चन ।।२८।।

२८ जो रागी होता है उसके लिए इन्द्रिय और मन के शब्द आदि विषय दु ख के कारण बनते हैं, किन्तु वीतराग को वे कुछ भी दु ख नही दे सकते।

विकारमविकारञ्च, न भोगा जनयन्त्यमी ।
तेष्वासक्तो मनुष्योहि, विकारमधिगच्छति ।।२६।।

२६ शब्द आदि विषय आत्मा मे विकार या अविकार उत्पन्न नही करते, किन्तु जो मनुष्य उनमे आसक्त होता है वह विकार को प्राप्त होता है ।

मोहेन प्रावृतो लोको, विकृतात्मा विशिक्षितः ।
क्रोध मान तथा मायां, लोभं घृणा मुहुर्व्रजेत ।।३०।।

३० जिसका ज्ञान मोह से आच्छन्न है और जिसकी आत्मा विकृत है वह पढा लिखा होने पर भी बार-बार क्रोध, मान, माया, लोभ और घृणा करता है ।

अरतिञ्च रति हास्यं, भयं शोकञ्च मैथुनम् ।
स्पृशन् भूयोऽपि मूढात्मा, भवेत् कारुण्यभाजनम् ।।३१।।

३१ जो मूढ आत्मा सयम मे अरति (अप्रेम) और असयम मे रति (प्रेम), हास्य, भय, शोक और मैथुन का पुन पुन स्पर्श करता है वह दयनीय होता है ।

प्रयोजनानि जायन्ते, स्रोतसा वशवर्तिनः ।
अनिच्छन्नपि दुःखानि, प्रार्थी तत्र निमज्जति ।।३२।।

३२ जो इन्द्रियो का वशवर्ती है उसके विभिन्न प्रकार की आवश्यकताएँ होती है । वह दु ख न चाहता हुआ भी निस्पृह न होने के कारण दु खो को चाहने वाला है । इसीलिए वह उनमे (दुखो मे) डूब जाता है ।

सुखाना लब्धये भूयो, दुःखानां विलयाय च।
संगृह्णन् विषयान् प्राज्यान्, सुखैषी दुःखमश्नुते ।।३३।।

३३. जो व्यक्ति सुखो की प्राप्ति और दु खो के विनाश के लिए पुन. पुन प्रचुर विषयो का सग्रह करता है वह सुखान्वेषी होते हुए भी दु ख को प्राप्त होता है, क्योकि विषय का सग्रह ही दु ख का मूल है।

इन्द्रियार्था इमे सर्वे, विरक्तस्य च देहिनः।
मनोज्ञत्वाऽमनोज्ञत्वं, जनयन्ति न किञ्चन ।।३४।।

३४ इन्द्रियो के विषय अपने आपमे न मनोज्ञ है और न अमनोज्ञ। ये रागी पुरुष के लिए मनोज्ञ-अमनोज्ञ होते है। जो वीतराग होता है उसके लिए ये मनोज्ञ या अमनोज्ञ नही होते।

कामान् संकल्पमानस्य सङ्गो हि बलवत्तरः।
तानऽसङ्कल्पमानस्य, तस्य मूल प्रणश्यति ।।३५।।

३५ जो काम-भोगो का सकल्प करता है उस व्यक्ति की कामासक्ति सुदृढ हो जाती है और जो काम-भोगो का सकल्प नही करता उसकी कामासक्ति का मूल नष्ट हो जाता है।

कृतकृत्यो वीतरागः, क्षीणावरणमोहन.।
निरन्तरायः शुद्धात्मा, सर्वं जानाति पश्यति ।।३६।।

३६ जिसके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चारो कर्म सर्वथा निर्मूल हो गए है वह कृतकृत्य, शुद्धात्मा और वीतराग होता है। वह सब तत्त्वो को जानता और देखता है—वह केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन सयुक्त बन जाता है।

भवोपग्राहिकं कर्म, क्षपयित्वाऽऽयुषः क्षये।
सर्वदुःखप्रमोक्षं हि, मोक्षमेत्यव्ययं शिवम् ।।३७।।

३७. वह आयुष्य की समाप्ति होने पर भवोपग्राही (वर्तमान जीवन को टिकाने मे सहायक) वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य कर्मों का नाश करके मोक्ष को प्राप्त होता है, जहाँ आत्मा सब दु खों से मुक्त हो जाता है, जो शिव है और जिसका कभी व्यय--विनाश नही होता ।

तृतीय अध्याय

मेघः प्राह—

कष्टानि सहमानोपि, घोरं नैको विषीदति।
एकस्तल्लेशतो दीन-स्तत्त्ववित्तत्वमत्र किम् ।।१।।

१ मेघ बोला—एक व्यक्ति घोर कष्टों को सहन करता हुआ भी खिन्न नहीं होता और दूसरा व्यक्ति थोड़े से कष्ट में भी अधीर हो जाता है, हे तत्त्वज्ञ! इसका क्या कारण है?

भगवान् प्राह—

कष्टं यो मन्यते स्पष्टं, परिणामं स्वकर्मणः।
श्रद्धत्ते यो विना भोगं, स्वकृतं नान्यथा भवेत् ।।२।।
स्व-कृतं नाम भोक्तव्य-मत्राऽमुत्र न संशयः।
आयतिष्वपि कष्टेषु, इति जानन्न खिद्यते ।।३।।

२–३ भगवान् ने कहा—जो व्यक्ति कष्ट को निश्चित रूप से अपने किए हुए कर्म का परिणाम मानता है और यह श्रद्धा रखता है कि किए हुए कर्म को भुगते बिना उससे मुक्ति नहीं मिल सकती और जो यह निश्चित रूप से जानता है कि अपने किए हुए कर्म भुगतने ही पड़ते हैं, भले इस जन्म में या अगले जन्म में, वह (इस तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति) कष्टों के आ पड़ने पर भी खिन्न नहीं होता।

कष्टान्यामंत्रयेत् सोऽथ, कृत-शुद्धयै यथाबलम् ।
स्वीकृतस्याऽप्रच्यवार्थं, मोक्षमार्गस्य संततम् ॥४॥

४ इस प्रकार का व्यक्ति किए हुए कर्मों की शुद्धि के लिए और स्वीकृत मोक्ष-मार्ग में निरन्तर चलते रहने के लिए यथाशक्ति कष्टों को आमन्त्रित करता है ।

अकष्टासादितो मार्गः कष्टापाते प्रणश्यति ।
कष्टेनापादितो मार्गः कष्टेष्वपि न नश्यति ॥५॥

५ कष्ट सहे बिना जो मार्ग मिलता है वह कष्ट आ पड़ने पर नष्ट हो जाता है और कष्ट सहकर जो मार्ग प्राप्त किया जाता है वह कष्टों के आ पड़ने पर भी नष्ट नहीं होता ।

बलं वीर्यं च सप्रेक्ष्य, श्रद्धामारोग्यमात्मनः ।
क्षेत्रं कालञ्च विज्ञाय, तथात्मानं नियोजयेत् ॥६॥

६ अपने बल (शारीरिक सामर्थ्य), वीर्य (आत्मिक सामर्थ्य), श्रद्धा और आरोग्य को देखकर, क्षेत्र और समय को जानकर, व्यक्ति उसी के अनुसार अपनी आत्मा को सत्क्रिया में लगाए ।

तपस्तथा विधातव्यं, चित्तं नार्तं भजेद् यथा ।
विवेकः प्रमुखो धर्मो, नाविवेको हि शुद्धयति ॥७॥

७ तप उसी प्रकार से करना चाहिए जिससे मन आर्त्तध्यान में न फँसे । क्योंकि सब धर्मों में विवेक प्रमुख धर्म है । विवेकशून्य व्यक्ति अपने को शुद्ध नहीं बना पाता ।

स्वकृतं नाम भोक्तव्यं, श्रद्धत्ते नेति यो जनः ।
श्रद्दधानोपि यो नैव, स्वात्मवीर्यं समुन्नयेत् ॥८॥

स कष्टाद् भयमाप्नोति, कष्टापाते विषीदति ।
आशङ्कां प्राप्य कष्टानां, स्वीकृतं मार्गमुज्झति ॥९॥

८-९. जो मनुष्य इस बात मे श्रद्धा नही रखता कि अपना किया हुआ कर्म भुगतना पडता है या इस बात में श्रद्धा रखता हुआ भी अपनी आत्मशक्ति को सत्कार्य में नही लगाता, वह कष्ट से कतराता है, कष्ट आ पडने पर खिन्न होता है और कष्टो के आने की आशंका से अपने स्वीकृत मार्ग को त्याग देता है ।

मार्गोयं वीर्यहीनानां, वत्स ! नैष हितावहः ।
धीरः कष्टमकष्टञ्च, समं कृत्वा हितं व्रजेत् ॥१०॥

१०. वत्स ! यह वीर्यहीन व्यक्तियो का मार्ग है । यह मुमुक्षु के लिए हितकर नही है । धीर पुरुष सुख दु ख को समान मानकर अपने हित की ओर जाता है ।

मेघः प्राह—

सुखास्वादाः समेजीवाः, सर्वे सन्ति प्रियायुषः ।
अनिच्छन्तोऽसुखं यान्ति, न यान्ति सुखमीप्सितम् ॥११॥
कः कर्त्ता सुख-दुखानां, को भोक्ता कश्च घातकः ।
सुखदो दुःखदःकोस्ति, स्याद्वादीश ! प्रशाधि माम् ॥१२॥

११-१२ मेघ बोला—सब जीवों को सुख और आयुष्य (जीवन) प्रिय लगता है । वे दु ख नही चाहते फिर भी वह मिलता है और सुख चाहते हैं फिर भी वह नही मिलता । सुख-दु ख का करने वाला कौन है ? और कौन इन्हे भोगता है? कौन है इनका नाश करने वाला ? और सुख-दु ख देने वाला कौन है ?

भगवान् प्राह—

शरीर-प्रतिबद्धोऽसा-वात्मा चरति संततम् ।
सकर्मा क्वापि सत्कर्मा, निष्कर्मा क्वापि संवृतः ।।१३।।

१३. भगवान् ने कहा—यह आत्मा शरीर में आबद्ध है। कर्म शरीर के द्वारा नियन्त्रित है। जहाँ मोह-कर्म का उदय होता है वहाँ आत्मा की असत् प्रवृत्ति होती है, उससे पाप-कर्म का आकर्षण होता है। जहाँ मोह कर्म क्षीण होता है वहाँ आत्मा की सत् प्रवृत्ति होती है, उससे पुण्य-कर्म का आकर्षण होता है। जहाँ मोह कर्म अधिक मात्रा में क्षीण होता है वहाँ प्रवृत्ति का निरोध होता है, उससे कर्म का ग्रहण नही होता।

कुर्वन् कर्माणि मोहेन, सकर्मात्मा निगद्यते ।
अर्जयेदशुभं कर्म, ज्ञानमाव्रियते ततः ।।१४।।

१४ मोह के उदय से जो व्यक्ति क्रिया करता है, वह सकर्मात्मा कहलाता है। सकर्मात्मा अशुभ कर्म का बन्धन करता है और उससे ज्ञान आवृत होता है।

आवृतं दर्शनं चापि, वीर्यं भवति बाधितम् ।
पौद्गलिकाश्च संयोगाः, प्रतिकूलाः प्रसृत्वराः ।।१५।।

१५ अशुभ कर्म के बन्धन से दर्शन आवृत होता है, वीर्य (आत्म-शक्ति) का हनन होता है और प्रसरणशील पौद्गलिक (भौतिक) सुखो की अनुकूलता नही रहती।

उदयेन च तीव्रेण, ज्ञानावरणकर्मण. ।
उदयो जायते तीव्रो, दर्शनावरणस्य च ।।१६।।

तस्य तीव्रोदयेन स्यात् मिथ्यात्वमुदितं ततः।
अशुभानां पुद्गलानां, संग्रहो जायते महान् ।।१७।।

१६–१७ ज्ञानावरण कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरण कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से मिथ्यात्व (दृष्टि की विपरीतता) का उदय होता है और उससे बहुत सारे अशुभ कर्मो का सग्रह (बन्धन) होता है।

मिथ्यात्वं-मोह एवास्ति, तेनात्मा विकृतो भवेत्।
सुचिरं बद्धयते सेव, स्वल्पं चारित्रमोहतः ।।१८।।

१८ मिथ्यात्व मोह का ही एक प्रकार है। उससे आत्मा विकृत होता है। मिथ्यात्व-मोह से आत्मा दीर्घकाल तक बद्ध होता है और चारित्र मोह से उसकी अपेक्षा वह अल्पकाल तक बद्ध होता है।

अज्ञानञ्चादर्शनञ्च, विकुर्वाते न वा जनम्।
विकाराणाञ्च सर्वेषा, बीज मोहोस्ति केवलम् ।।१९।।

१९ अज्ञान और अदर्शन (ज्ञानावरण और दर्शनावरण) आत्मा को विकृत नही बनाते। जितने विकार हैं उन सब का बीज केवल मोह ही है।

ते च ततस्योत्तेजनाया, हेतुभूते पराण्यपि।
परिकरत्व मोहस्य, कर्माणि बधते ततः ।।२०।।

२० ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म तथा शेष सभी कर्म मोह कर्म को उत्तेजित करने मे निमित्त बनते है। इसलिए मोह कर्म सब मे प्रधान है और शेष सब कर्म उसी का परिवार है।

मस्तकेषु यथा सूच्यां, हतायां हन्यते तलः।
एवं कर्माणि हन्यन्ते, मोहनीये क्षयं गते ॥२१॥

२१. जिस प्रकार सुई से ताड के अग्रभाग को बीधने पर वह नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मोह कर्म के क्षीण होने पर दूसरे कर्म क्षीण हो जाते है।

सेनापतौ विनिहते, यथा सेना विनश्यति।
एवं कर्माणि नश्यन्ति, मोहनीये क्षयं गते ॥२२॥

२२. जिस प्रकार सेनापति के मारे जाने पर सेना नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार मोह कर्म के क्षीण होने पर दूसरे कर्म क्षीण हो जाते है।

धूमहीनो यथा वह्निः, क्षीयतेसौ निरिन्धनः।
एव कर्माणि क्षीयन्ते, मोहनीये क्षयं गते ॥२३॥

२३ जिस प्रकार धूम और इन्धन-हीन अग्नि बुझ जाती है उसी प्रकार मोह कर्म के क्षीण होने पर दूसरे कर्म क्षीण हो जाते है।

शुष्कमूलो यथा वृक्षः, सिच्यमानो न रोहति।
नैवं कर्माणि रोहन्ति, मोहनीये क्षयं गते ॥२४॥

२४ जिसकी जड सूख गई हो वह वृक्ष सीचने पर भी अकुरित नही होता, उसी प्रकार मोह कर्म के क्षीण होने पर कर्म अकुरित नही होते।

न यथा दग्धबीजाना, जायन्ते पुनरंकुराः।
कर्म बीजेषु दग्धेषु, न जायन्ते भवाङ्कुराः ॥२५॥

२५ जिस प्रकार जले हुए बीजो मे अकुर उत्पन्न नही होते, उसी

प्रकार कर्म बीजो के जल जाने पर जन्म-मरण रूप अंकुर उत्पन्न नही होते ।

विशुद्धया प्रतिमया, मोहनीये क्षयं गते ।
सर्वलोकमलोकञ्च, वीक्षते सुसमाहित. ॥२६॥

२६ विशुद्ध प्रतिमा (तप विशेष) के द्वारा मोह कर्म के क्षीण होने पर समाहित आत्मा समस्त लोक और अलोक को देख लेता है ।

सुसमाहितलेश्यस्य, अवितर्कस्य सयते. ।
सर्वतो विप्रमुक्तस्य, आत्मा जानाति पर्यवान् ॥२७॥

२७ जिसका चित्त समाहित हो, जो अपने साधुत्व के प्रति आस्थावान् हो और जो सासारिक बन्धनो से सर्वथा मुक्त हो उस सयमी की आत्मा पदार्थों की नाना अवस्थाओ को जान लेती है ।

तपोपहृतलेश्यस्य, दर्शन परिशुध्यति ।
काममूर्ध्वमधस्तिर्यक्, स सर्वमनुपश्यति ॥२८॥

२८ तपस्या के द्वारा जो कर्महेतुक लेश्याओ (भावो) का विलय करता है उसकी दृष्टि शुद्ध हो जाती है । शुद्ध दृष्टि वाला व्यक्ति ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक मे अवस्थित सब पदार्थों को देखता है ।

ओजश्चित्त समादाय, ध्यानं यस्य प्रजायते ।
धर्मेस्थित. स्थिर चित्तो, निर्वाणमधिगच्छति ।२९॥

२९ जो चित्त को निर्मल बनाकर ध्यान करता है वही धर्म में अवस्थित होता है । स्थिर चित्त वाला पुरुष निर्वाण को प्राप्त होता है ।

नेदं चित्तं समादाय, भूयो लोके स जायते ।
संज्ञिज्ञानेन जानाति, विशुद्धं स्थानमात्मनः ।।३०।।

३०. निर्मल चित्त वाला व्यक्ति बार-बार संसार में जन्म नहीं लेता। वह जातिस्मृति के द्वारा आत्मा के विशुद्ध स्थान को जानता है।

प्रान्तानि भजमानस्य, विविक्तं शयनासनम् ।
अल्पाहारस्य दान्तस्य, दर्शयन्ति सुरा निजम् ।।३१।।

३१. जो निस्सार भोजन, एकान्त वसति, एकान्त आसन और अल्पाहार का सेवन करता है और जो इन्द्रियों का दमन करता है उसके सम्मुख देव अपने आपको प्रकट करते हैं।

अथो यथास्थितं स्वप्नं, क्षिप्रं पश्यति संवृतः ।
सर्वं वा प्रतरत्योघं, दुःखाच्चापि विमुच्यते ।।३२।।

३२. संवृत आत्मा यथार्थ स्वप्न को देखता है, संसार के प्रवाह को तर जाता है और दुःख से मुक्त हो जाता है।

सर्वकामविरक्तस्य, क्षमतो भयभैरवम् ।
अवधिर्जायते ज्ञानं, संयतस्य तपस्विनः ।।३३।।

३३ जो सब कामों से विरक्त है, जो भयानक शब्दों, अट्टहासों और परिषहों को सहन करता है, जो संयत और तपस्वी है, उसे अवधि-ज्ञान उत्पन्न होता है।

आवारका अन्तराय-कारकाश्च विकारकाः ।
प्रियाप्रिय-निदानानि, पुद्गलाः कर्मसंज्ञिताः ।।३४।।

३४ जो पुद्गल आत्मा (ज्ञान-दर्शन) को आवृत करते हैं, आत्म-

शक्ति में विघ्न डालते हैं—नष्ट करते हैं, आत्मा को विकृत करते हैं और प्रिय और अप्रिय में निमित्त बनते हैं, वे 'कर्म' कहलाते हैं।

जीवस्य परिणामेन, अशुभेन शुभेन च।
संगृहीताः पुद्गला हि, कर्मरूपं भजन्त्यलम् ॥३५॥

३५. जीव के शुभ और अशुभ परिणाम से जो पुद्गल संगृहीत होते हैं वे 'कर्म' रूप में परिणत हो जाते हैं।

तेषामेव विपाकेन, जीवस्तथा प्रवर्तते।
नैष्कर्म्येण विना नैष, क्रमः क्वापि विनश्यति ॥३६॥

३६. उन्हीं कर्मों के विपाक से जीव वैसे ही प्रवृत्त होता है जैसे उनका संग्रह करता है। नैष्कर्म्य (पूर्ण निवृत्ति, पूर्ण संवर) के बिना यह क्रम कभी भी नहीं रुकता।

पूर्णनैष्कर्म्य-योगस्तु, शैलेश्यामेव जायते।
तं गतो कर्मभिर्जीवः, क्षणादेव विमुच्यते ॥३७॥

३७ पूर्ण नैष्कर्म्य-योग शैलेशी अवस्था में होता है। यह अवस्था चौदहवें गुण स्थान में प्राप्त होती है। इसमें जीव मन, वाणी और शरीर के कर्म का निरोध कर शैल-पर्वत की भाँति अकम्प बन जाता है, इसलिए इस अवस्था को शैलेशी अवस्था कहते हैं। जीव क्षण में (अ, इ, उ, ऋ, लृ—इन पांच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगे उतने समय में) कर्म-मुक्त हो जाता है।

अपूर्णं नाम नैष्कर्म्यं, तदवीपि प्रवर्तते।
नैष्कर्म्येण विना क्वापि, प्रवृत्तिर्न भवेच्छुभा ॥३८॥

३८. अपूर्ण नैष्कर्म्य-योग शैलेशी अवस्था से पहले भी होता है क्योंकि नैष्कर्म्य के बिना कोई भी प्रवृत्ति शुभ नहीं होती।

सत्प्रवृत्तिं प्रकुर्वाणः, कर्म निर्जरयत्यघम्।
बध्यमानं शुभं तेन, सत्कर्मेत्यभिधीयते ॥३९॥

३९ जो जीव सत्प्रवृत्ति करता है उसके पाप-कर्म की निर्जरा होती है और शुभ-कर्म का सग्रह होता है इसलिए वह 'सत्कर्मा' कहलाता है।

शुभं नाम शुभं गोत्रं, शुभमायुश्च लभ्यते।
वेदनीयं शुभं जीवः, शुभकर्मोदये सति ॥४०॥

४० शुभ-कर्मो का उदय होने पर जीव को शुभ नाम, शुभ गोत्र, शुभ आयुष्य और सुख वेदनीय की प्राप्ति होती है (शुभ नाम कर्म के उदय से शरीर का सौन्दर्य, दृढता आदि प्राप्त होते हैं। शुभ गोत्र कर्म के उदय से उच्चता, लोकपूजनीयता प्राप्त होती है। शुभ आयुष्य कर्म के उदय से दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है। सुख वेदनीय के उदय से सुख की अनुभूति होती है।)

अशुभं वा शुभं वापि, कर्म जीवस्य बन्धनम्।
आत्मस्वरूपसंप्राप्ति-र्बन्धे सति न जायते ॥४१॥

४१. कर्म शुभ हो या अशुभ, जीवन के लिए दोनो ही बन्धन हैं। जब तक कोई भी बन्धन रहता है तब तक आत्मा को अपने स्वरूप की सप्राप्ति नहीं होती।

सुखानुगामि यद् दुःखं, सुखमन्वेषयञ्जनः।
दुःखमन्वेषयत्येव, पुण्यं तन्न विमुक्तये ॥४२॥

४२. सुख के पीछे दु:ख लगा हुआ है। जो जीव पौद्गलिक सुख की खोज करता है वह वस्तुत: दु:ख की ही खोज करता है क्योंकि पुण्य से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

पुद्गलानां प्रवाहो हि, नैष्कर्म्येण निरुद्ध्यते।
त्रुट्यन्ति पाप-कर्माणि, नवं कर्म न कुर्वतः ॥४३॥

४३ पुद्गलों का जो प्रवाह आत्मा में प्रवाहित हो रहा है वह नैष्कर्म्य (संवर) से रुकता है। जो नए कर्म का संग्रह नहीं करता, उसके पूर्वसञ्चित पाप-कर्म का बन्धन टूट जाता है।

अकुर्वतो नवं नास्ति, कर्म बन्धन-कारणम्।
नोत्पद्यते न म्रियते, यस्य नास्ति पुराकृतम् ॥४४॥

४४. जो क्रिया नहीं करता (संवृत है) उसके नए कर्मों के बन्धन का कारण शेष नहीं रहता। जिसके पहले किए हुए कर्म नहीं है, वह न जन्म लेता है और न मरता है।

शरीरं जायते बद्ध-जीवाद् वीर्यं ततः स्फुरेत्।
ततो योगो हि योगाच्च, प्रमादो नाम जायते ॥४५॥

४५ कर्म-बद्ध जीव के शरीर होता है। शरीर में वीर्य (सामर्थ्य) स्फुटित होता है। वीर्य से योग (मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति) और योग से प्रमाद उत्पन्न होता है।

प्रमादेन च योगेन, जीवोऽसौ बध्यते पुनः।
बद्धकर्मोदयेनैव, सुखं दुःखञ्च लभ्यते ॥४६॥

४६. प्रमाद और योग से जीव पुन. कर्म से आबद्ध होता है और बन्धे हुए कर्मों के उदय से वह सुख-दु:ख पाता है।

अनुभवन् स्व-कर्माणि, जायते म्रियते जनः।
प्राधान्यं नेप्सितानां यत्, कृतं प्रधानमिष्यते ॥४७॥

४७ कर्म-सिद्धान्त के अनुसार इच्छा की प्रधानता नही है किन्तु कृत की प्रधानता है। अर्थात् मनुष्य जो चाहता है वही नही होता, किन्तु उसे उसका फल भी भुगतना पडता है जो उसने पहले किया है।

सुख-दुःख-प्रदो नैव, तत्त्वतः कापि विद्यते।
निमित्तं तु भवेद् वापि, तदिह परिणामिनि ॥४८॥

४८ सचाई यह है कि ससार मे सुख-दु ख का देने वाला कोई दूसरा नही है। दूसरा सुख-दु ख की प्राप्ति मे केवल निमित्त हो सकता है क्योकि आत्मा परिणामी है। उसमे बाह्य निमित्तो से भी विविध परिणमन होते हैं। इसलिए दूसरा भी आत्मा की सुख-दु ख की परिणति मे निमित्त बन सकता है।

सुखानामपि दु खाना क्षयाय प्रयतो भव।
लप्स्यते तेन निर्द्वन्द्व, महानन्दमनुत्तरम् ॥४९॥

४९ भगवान् ने कहा—मेघ! तू सुख और दु ख को क्षीण करने के लिए प्रयत्न कर। सब द्वन्द्वो से मुक्त, सबसे प्रधान महान् आनन्द—मोक्ष को प्राप्त होगा।

मनन जल्पनं नास्ति, कर्म किञ्चिन्न विद्यते।
विरज्यमानोऽकर्मात्मा, भवितुं प्रयतो भव ॥५०॥

५० वहाँ (मोक्ष मे) मन, वाणी और कर्म नही होते—न मनन किया जाता है, न भाषण किया जाता है और न किञ्चित् मात्र प्रवृत्ति की जाती है। वहा आत्मा 'अकर्मा' होती है। मेघ! तू विरक्त होकर 'अकर्मात्मा' बनने का प्रयत्न कर।

卐 卐

चतुर्थ अध्याय

मेघः प्राह—

सुखानां नाम सर्वेषां, शरीरं साधनं प्रभो।
विद्यते तन्न निर्वाणे, तत्रानन्दः कथं स्फुरेत् ॥१॥

१ मेघ बोला—प्रभो! सब सुखों का साधन शरीर है, किन्तु निर्वाण में वह नहीं रहता, फिर आनन्द की अनुभूति कैसे हो?

मानसानाञ्च भावानां, प्रकाशो वचसा भवेत्।
अवाचां कथमानन्दः, प्रोल्लसेद् ब्रूहि देव! मे ॥२॥

२ मन के भावों का प्रकाशन वाणी के द्वारा होता है। जिन्हें वाणी प्राप्त न हो उनका आनन्द कैसे विकसित हो सकता है? देव! आप बताए।

चिन्तनेन नवीनानां, कल्पनानां समुद्भवः।
सदा चिन्तन-शून्यानां, परितृप्तिः कथं भवेत् ॥३॥

३ चिन्तन से नई-नई कल्पनाए उद्भूत होती है। जो सदा चिन्तन से शून्य है, उसे परितृप्ति कैसे मिले?

इन्द्रियाणि प्रवृत्तानि, जनयन्ति मनः प्रियम्।
इन्द्रियेण विहीनानामनुभूति-सुखं कथम् ॥४॥

४. इन्द्रियां जब अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं तब वे मानसिक

प्रियता उत्पन्न करती है। जिन्हें इन्द्रिया प्राप्त न हो उन्हे अनुभव-जन्य सुख कैसे हो सकता है ?

साधनेन विहीनेस्मिन्, पथि प्रेरयसि प्रजाः।
किमत्र कारण ब्रूहि, देव ! जिज्ञासुरस्म्यहम् ॥५॥

५. मोक्ष का मार्ग साधनविहीन है—जहा जीवन के साधनभूत मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति को रोकने का यत्न किया जाता है। फिर आप लोगों को इस ओर चलने की प्रेरणा क्यों देते हैं ? देव ! मैं जिज्ञासु हूं। इस प्रेरणा का कारण मुझे समझाइए।

भगवान् प्राह—

यत्सुखं कायिकं वत्स ! वाचिकं मानसं तथा।
अनुभूतं तदस्माभि-रत. सुखमितीष्यते ॥६॥

६ भगवान् ने कहा—वत्स ! जो जो कायिक, वाचिक और मानसिक सुख है उसका हमने अनुभव किया है। इसोलिए वह सुख है—ऐसा हमे प्रतीत होता है।

नानुभूतश्चिदानन्द, इन्द्रियाणामगोचरः।
वितर्क्यो मनसा नापि, स्वात्म-दर्शन-संभवः ॥७॥

७ किन्तु चिद् के आनन्द का अभी अनुभव नही किया है, क्योकि वह इन्द्रियो का विषय नही है, मन की वितर्कणा से परे है। आत्म-साक्षात्कार से ही उसका प्रादुर्भाव होता है।

इन्द्रियाणि निवर्तन्ते, ततश्चित्तं निवर्तते।
तत्रात्म-दर्शनं पुण्यं, ध्यान-लीनस्य जायते ॥८॥

८. इन्द्रिया अपने विषयो से निवृत्त होती है तब चित्त अपने विषय

से निवृत्त होता है। जहाँ इन्द्रिय और मन की अपने-अपने विषयों से निवृत्ति होती है वहाँ ध्यान-लीन व्यक्ति को पवित्र आत्मदर्शन की प्राप्ति होती है।

सहजं निरपेक्षञ्च, निर्विकारमतीन्द्रियम्।
आनन्दं लभते योगी, बहिरव्यापृतेन्द्रियः॥९॥

९. जिसकी इन्द्रियों का बाह्य पदार्थों में व्यापार नहीं होता वह योगी सहज, निरपेक्ष, निर्विकार और अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त होता है।[1]

आत्मलीनो महायोगी, वर्षमात्रेण संयमी।
अतिक्रामति सर्वेषां, तेजोलेश्यां सुपर्वणाम्॥१०॥

१०. जो सयमी आत्मा में लीन और महान् योगी होता है वह वर्ष भर के दीक्षा-पर्याय से समस्त देवो के सुखों को लाँघ जाता है अर्थात् उनसे अधिक सुखी बन जाता है।[2]

१—(१) सहज आनन्द—स्वभावजन्य आनन्द।
(२) निरपेक्ष आनन्द—जिस आनन्द की प्राप्ति में आत्मा के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा न हो।
(३) निर्विकार आनन्द—पवित्र शुद्ध आनन्द।
(४) अतीन्द्रिय आनन्द—जो आनन्द इन्द्रियों का विषय न हो।

२—देखो अध्याय ९ के श्लोक ३३–४४।

ऐन्द्रियं मानसं सौख्यं, साबाधं क्षणिकं तथा।
आत्मसौख्यमनाबाधं, शाश्वतञ्चापि विद्यते ॥११॥

११ इन्द्रिय तथा मन के सुख बाधाओं से पूर्ण और क्षणिक होते हैं। आत्म-सुख बाधारहित और स्थायी होता है।

सर्व-कर्म-विमुक्तानां, जानतां पश्यतां समम्।
सर्वापेक्षा-विमुक्तानां, सर्व-सङ्गापसारिणाम् ॥१२॥
मुक्तानां यादृशं सौख्यं, तादृशं नैव विद्यते।
संपन्नसर्वकामानां, नृणामपि सुपर्वणाम् (युग्मम्) ॥१३॥

१२–१३ जो सब कर्मों से विमुक्त है, जो एक साथ जानते-देखते हैं, जो सब प्रकार की अपेक्षाओं से रहित हैं और जो सब प्रकार की आशक्तियों से मुक्त है, उन मुक्त आत्माओं को जैसा सुख प्राप्त होता है वैसा सुख सर्व-काम-भोगों से सम्पन्न मनुष्यों और देवताओं को भी प्राप्त नहीं होता।

सुखराशिर्हि मुक्तानां, सर्वाद्धा पिण्डितोभवेत्।
सोऽनन्तवर्गभक्तः सन्, सर्वाकाशेऽपि माति न ॥१४॥

१४ यदि मुक्त-आत्माओं की सर्वकालीन सुख-राशि एकत्रित हो जाय, उसे हम अनन्त वर्गों में विभक्त करें और एक-एक वर्ग को आकाश के एक-एक प्रदेश पर रखें तो वे इतने वर्ग होंगे कि सारे आकाश में भी नहीं समायेंगे।

यथा मूकः सितास्वादं, काममनुभवन्नपि।
साधनाभावमापन्नो, न वाचा वक्तुमर्हति ॥१५॥

१५ जैसे मूक व्यक्ति को चीनी की मिठास का भली-भाँति

अनुभव होता है फिर भी वह उसे बोलकर बता नहीं सकता, क्योंकि उसके पास अभिव्यक्ति का साधन-वाणी नहीं है।

यथाऽरण्यो जनः कश्चिद्, दृष्ट्वा नगरमुत्तमम्।
अदृष्टनगरानन्यान्, न सञ्ज्ञापयितुं क्षमः ॥१६॥
तथा हि सहजानन्दं, सर्ववाचामगोचरम्।
साक्षादनुभवँश्चापि न योगी वक्तुमर्हति ॥१७॥

१६-१७ जैसे जंगल में रहने वाला कोई मनुष्य बड़े नगर को देखकर उन व्यक्तियों को उसका स्वरूप नहीं समझा सकता जिन्होंने नगर न देखा हो। उसी प्रकार योगी सहज आनन्द का साक्षात् अनुभव करता है किन्तु वह वचन का विषय नहीं है इसलिए वह उसे वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता।

भावेऽनिर्वचनीयेऽस्मिन्, संदेहं वत्स! मा कुरु।
बुद्धिवादः ससीमोऽयं, मनः परं न धावति ॥१८॥

१८ वत्स! इस अनिर्वचनीय भाव में सन्देह मत कर। यह बुद्धिवाद सीमित है, मन से आगे इसकी पहुँच नहीं है।

सन्त्यमी द्विविधा भावा, स्तर्कगम्यास्तथेतरे।
अतर्क्ये तर्कमायुञ्जन्, बुद्धिवादी विमुह्यति ॥१९॥

१९ भाव (पदार्थ) दो प्रकार के होते हैं—तर्कगम्य और अतर्कगम्य। अतर्कगम्य भाव में तर्क का प्रयोग करने वाला बुद्धिवादी उसमें उलझ जाता है।

इन्द्रियाणां मनसश्च, भावा ये सन्ति गोचराः।
तत्र तर्कः प्रयोक्तव्य-स्तर्को नेतः प्रधावति ॥२०॥

२०. इन्द्रिय और मन के द्वारा जो पदार्थ जाने जाते हैं उन्हें समझने के लिए तर्क का प्रयोग हो सकता है; उससे आगे तर्क की गति नही है।

हेतु गम्येषु भावेषु, युञ्जानस्तर्कपद्धतिम्।
अहेतुगम्ये श्रद्धावान्, सम्यग्दृष्टिर्भवेज्जनः ॥२१॥

२१. जो हेतुगम्य पदार्थों मे हेतु का प्रयोग करता है और अहेतुगम्य पदार्थों मे श्रद्धा रखता है वह सम्यग्दृष्टि है।

आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णदृष्टिकारणम्।
अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये ॥२२॥

२२ अतीन्द्रिय पदार्थों का अस्तित्व जानने के लिए आगम (श्रद्धा) और उपपत्ति (तर्क) दोनो अपेक्षित हैं। ये मिलकर ही दृष्टि को पूर्ण बनाते हैं।

इन्द्रियाणां चेतसश्च, रज्यन्ति विषयेषु ये।
तेषां तु सहजानन्द-स्फुरणा नैव जायते ॥२३॥

२३ इन्द्रिय और मन के विषयों में जिनकी आसक्ति बनी रहती है, उन्हे सहज आनन्द का अनुभव नही होता।

सुस्वादाश्च रसाः केचित्, गन्धाश्च केचन प्रियाः।
सन्तोऽपि हि न लभ्यन्ते, विना यत्नेन मानवैः ॥२४॥
तथाऽऽत्मनि महान् राशि-रानन्दस्य च विद्यते।
इन्द्रियाणां चेतसश्च, चापलेन तिरोहितः ॥२५॥

२४–२५ कई रस बहुत स्वादपूर्ण है और कई गन्ध बहुत प्रिय है किन्तु वे तब तक प्राप्त नही होते जब तक उनकी प्राप्ति के लिए

यत्न नही किया जाता। वैसे ही आत्मा में आनन्द की विशाल राशि विद्यमान है किन्तु वह मन और इन्द्रियो की चपलता से ढकी हुई है।

यावन्नान्तर्मुखी वृत्तिर्बहिर्व्यापारवर्जनम् ।
तावत्तस्य न चांशोऽपि, प्रादुर्भावं समश्नुते ॥२६॥

२६ जब तक वृत्तिया अन्तर्मुखी नही बनती और उनका बहिर्मुखी व्यापार नही रुकता तब तक उस आत्मिक आनन्द का अश भी प्रकट नही होता।

कायिके वाचिके सौख्ये, तथा चैतसिकेऽपि च।
रज्यमानस्ततश्चोर्ध्वं, न लोको द्रष्टुमर्हति ॥२७॥

२७ जो मनुष्य कायिक, वाचिक और मानसिक सुख मे ही अनुरक्त रहता है वह उससे आगे देख नही सकता।

विहाय वत्स ! संकल्पान, नैष्कर्म्यं प्रतीरितान्।
संयम्येन्द्रिय संघातमात्मनि स्थितिमाचर॥२८॥

२८ वत्स ! नैष्कर्म्य-योग के प्रति तेरे मन मे जो सकल्प-विकल्प हुए हैं उन्हे छोड और इन्द्रिय-समूह को सयत बनाकर आत्मा मे अवस्थित बना।

न चेयं तार्किकी वाणी, न चेदं मानसं श्रुतम्।
अनुभूतिरियं साक्षात्, संशयं कुरु माऽनघ ! ॥२९॥

२९ भद्र ! मै तुझे कोरी तार्किक, काल्पनिक या सुनी हुई बाते नही सुना रहा हूँ। यह मेरी साक्षात् अनुभूति है, इसमें सन्देह मत कर।

आगमानामधिष्ठानं, वेदानां वेद उत्तमः ।
उपादिदेश भगवानात्मानन्दमनुत्तरम् ॥३०॥

३०. भगवान् ने अनुत्तर आत्मानन्द का उपदेश दिया । वे आगमो के आधार और वेदो (ज्ञानो) मे उत्तम वेद थे ।

पञ्चम अध्याय

मेघः प्राह—

प्रभो ! तवोपदेशेन, ज्ञातं मोक्षसुखं मया।
व्यासेन साधनान्यस्य, ज्ञातुमिच्छामि साम्प्रतम् ॥१॥

१ मेघ बोला—प्रभो ! आपके उपदेश से मैंने मोक्ष का सुख जान लिया। अब मैं विस्तार के साथ उनके साधनों को जानना चाहता हूँ।

भगवान् प्राह—

अहिंसा लक्षणो धर्मः, तितिक्षा लक्षणस्तथा।
यस्य कष्टे धृतिर्नास्ति, नाहिंसा तत्र सम्भवेत् ॥२॥

२. भगवान् ने कहा—धर्म का पहला लक्षण है अहिंसा और दूसरा लक्षण है तितिक्षा। जो कष्ट में धैर्य नहीं रख पाता, वह अहिंसा की साधना नहीं कर पाता।

सत्त्वान् स एव हन्याद् यः, स्याद् भीरुः सत्त्ववर्जितः।
अहिंसाशौर्यसम्पन्नो, न हन्ति स्वं परांस्तथा ॥३॥

३. जीवों का हनन वही करता है जो भीरु और निर्वीर्य हो। जिसमें अहिंसा का तेज है वह स्वयं का और दूसरों का हनन नहीं करता।

नानाविधानि कष्टानि, प्रसन्नात्मा सहेत यः।
परानपीडयन् सोऽयमहिंसां वेत्ति नापरः ॥४॥

४. जो दूसरो को कष्ट न पहुँचाता हुआ प्रसन्नता पूर्वक नाना प्रकार के कष्टो को सहन करता है वही व्यक्ति अहिंसा को जानता है, दूसरा नही।

अपि शात्रवमापन्नान्, मनुते सुहृदः प्रियान्।
अपि कष्टप्रदायिभ्यो, न च क्रुद्धेन्मनागपि ॥५॥

५ अहिंसक अपने से शत्रुता रखने वालो को प्रिय मित्र मानता है और कष्ट देने वालो पर तनिक भी क्रुद्ध नही होता।

अप्रियेषु पदार्थेषु, द्वेषं कुर्यान्न किञ्चन।
प्रियेषु च पदार्थेषु, रागभावं न चोद्वहेत् ॥६॥

६ वह अप्रिय पदार्थो मे न किञ्चित् द्वेष करता है और न प्रिय पदार्थों मे अनुरक्त होता है।

अप्रिया सहते वाणीं, सहते कर्म चाप्रियम्।
प्रियाप्रिये निर्विशेषः, समदृष्टिरहिंसकः ॥७॥

७ वह अप्रिय वचन को सहन करता है और अप्रिय प्रवृत्ति को भी सहन करता है। जो प्रिय और अप्रिय मे समान रहता है वह समदृष्टि होता है और जो समदृष्टि होता है वही अहिसक है।

भयं नास्त्यप्रमत्तस्य, स एव स्यादहिंसकः।
अहिंसायाश्च भीतेश्च, दिगप्येका न विद्यते ॥८॥

८ अप्रमत्त को भय नही होता और जो अप्रमत्त होता है वही अहिंसक है। अहिंसा और भय की दिशा एक नही होती—जो

अभय नही होता वह अहिंसक भी नही हो सकता। अहिंसक के लिए अभय होना आवश्यक है।

स्वगुणे स्वत्वधीर्यस्य, भयं तस्य न जायते।
परवस्तुषु यस्यास्ति, स्वत्वधीः स भयं नयेत् ॥९॥

९ जो आत्मीय गुणो मे अपनत्व की बुद्धि रखता है उसे भय नहीं होता। जो पर-पदार्थ में अपनत्व की बुद्धि रखता है उसे भय होता है।

स्वं वस्तु स्वगुणा एव, तस्य संरक्षणक्षमाम्।
अहिंसां वत्स ! जानीहि, तत्र हिंसाऽस्त्यकिञ्चना ॥१०॥

१० अपना गुणात्मक स्वरूप ही अपनी वस्तु है। वत्स ! अहिसा उसी का सरक्षण करने में समर्थ है। आत्म-गुण का सरक्षण करने मे हिसा अकिञ्चित्कार है, व्यर्थ है।

ममत्वं रागसम्भूतं, वस्तुमात्रेषु यद् भवेत्।
साहिंसाऽऽसक्तिरेवेव, जीवोऽसौ बध्यतेऽनया ॥११॥

११ वस्तु मात्र के प्रति राग से जो ममत्व उत्पन्न होता है वह हिसा है और वही आसक्ति है। उसीसे यह आत्मा आबद्ध होती है।

ग्रहणे परवस्तूनां, रक्षणे परिवर्धने।
अहिंसा क्षमतां नैति, सात्मस्थितिरनुत्तरा ॥१२॥

१२. पर-वस्तुओ का ग्रहण, रक्षण और सबर्धन करने में अहिंसा समर्थ नही है क्योकि वे सब आत्मा से भिन्न अवस्थाएँ है और अहिंसा आत्मा की अनुत्तर अवस्था है।

अतीतैर्भाविभिश्चापि, वर्तमानैः समैर्जिनैः।
सर्वे जीवा न हन्तव्या, एषधर्मो निरूपितः ॥१३॥

१३. जो तीर्थङ्कर हो चुके, होगे या है, उन सब ने इसी अहिंसा का निरूपण किया है। उनका उपदेश है—"किसी भी जीव का हनन मत करो।"

मुक्तेरयमुपायोऽस्ति, योगस्तेनाभिधीयते।
अहिंसात्मविहारो वा, स चैकाङ्गः प्रजायते ॥१४॥

१४ यह धर्म मुक्ति का उपाय है, इसलिए यह योग कहलाता है। भिन्न-भिन्न दृष्टियो से धर्म के अनेक विभाग होते हैं। जहाँ उसके और विभाग नही किए जाते वहाँ अहिसा या आत्म-रमण को ही धर्म कहा जाता है। यह एकाङ्ग धर्म है।

श्रुतं चारित्रमेतच्च, द्वयङ्ग-स्त्र्यङ्गःसुदर्शनः।
सतपाश्चतुरङ्गः स्यात्, पञ्चाङ्गो वीर्य संयुतः ॥१५॥

१५. धर्म के दो, तीन, चार और पाच विभाग भी किए जाते हैं।

(१) श्रुत और चरित्र—यह दो प्रकार वाला धर्म है।

(२) श्रुत (ज्ञान), चारित्र और दर्शन—यह तीन प्रकार वाला धर्म है।

(३) श्रुत, चारित्र, दर्शन और तप—यह चार प्रकार वाला धर्म है।

(४) श्रुत, चारित्र, दर्शन, तप और वीर्य—यह पाँच प्रकार वाला धर्म है।

हिंसैव विषमा वृत्ति, र्दुष्प्रवृत्तिस्तथोच्यते।
अहिंसा साम्यमेतद्धि, चारित्रं बहुभूमिकम् ॥१६॥

१६ जितनी हिंसा है उतनी ही विषम वृत्ति व दुष्प्रवृत्ति है। जितनी अहिंसा है उतना ही समभाव (साम्य) है और जो समभाव है वही चारित्र है। उसकी अनेक भूमिकाएँ है।

सत्यमस्तेयकं ब्रह्मचर्यमेवमसंग्रहः।
अहिंसाया हि रूपाणि, विहितानि व्यपेक्षया ॥१७॥

१७ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह—ये अहिंसा के ही रूप है। ये विभाग अपेक्षादृष्टि (उपयोगिता की दृष्टि) से किए गए है।

अवैराग्यञ्च मोहश्च, नात्रभेदोऽस्ति कश्चन।
विषयग्रहणं तस्मात्, ततश्चेन्द्रियवर्तनम् ॥१८॥

१८ जो अवैराग्य है वही मोह है। इनमे कोई भेद नही है। मोह से विषयो का ग्रहण होता है और उससे इन्द्रियो की प्रवृत्ति होती है।

मनसश्चापलं तस्मात्, संकल्पाः प्रचुरास्ततः।
प्राबल्यं तत इच्छाया, विषयासेवनं ततः ॥१९॥

१९ इन्द्रियो की प्रवृत्ति से मन चपल बनता है और मन की चपलता से अनेक सकल्प उत्पन्न होते है। संकल्पो से इच्छा प्रबल बनती है और प्रबल इच्छा से विषयो का सेवन होता है।

वासनायास्ततो दाढर्यं, ततो मोहप्रवर्तनम्।
मोहव्यूहे प्रविष्टानां, मुक्तिर्भवति दुर्लभा ॥२०॥

२० विषयो के सेवन से वासना दृढ होती है और दृढ वासना से मोह बढ़ता है। मोह एक व्यूह है। उसमे प्रवेश करने के पश्चात् मुक्ति की उपलब्धि कठिन हो जाती है।

अवैराग्यञ्च सर्वेषां, भोगानां मूलमिष्यते।
वैराग्यं नाम सर्वेषां, योगानां मूलमिष्यते ।।२१।।

२१ सब भोगो का मूल अवैराग्य है और सब योगो का मूल है वैराग्य।

विषयाणां परित्यागो, वैराग्येणाशु जायते।
अग्रहश्च भवेत्तस्मादिन्द्रियाणां शमस्ततः ।।२२।।

२२ विषयो का त्याग वैराग्य से ही होता है। जो विषयो का त्याग कर देता है उसके उनका (विषयो का) अग्रहण होता है और अग्रहण से इन्द्रिया शान्त बनती है।

मनः स्थैर्यं ततस्तस्माद्, विकाराणां परिक्षयः।
क्षीणेषु च विकारेषु, त्यक्ता भवति वासना ।।२३।।

२३ इन्द्रियो की शान्ति से मन स्थिर बनता है और मन की स्थिरता से विकार क्षीण होते हैं। विकारो के क्षीण होने पर वासना नष्ट हो जाती है।

स्वाध्यायश्च तथा ध्यानं, विशुद्धेः स्थैर्यकारणम्।
आभ्यां सम्प्रतिपन्नाभ्यां, परमात्मा प्रकाशते ।।२४।।

२४ स्वाध्याय और ध्यान से विशुद्धि स्थिर होती है और जो इनकी सम्पदा से सम्पन्न है उसके अन्त करण मे परम आत्मा प्रकाशित हो जाता है।

श्रद्धया स्थिरयाऽऽप्तो, जयोऽपि चिरकालिकः।
सुस्थिरां कुरुते वृत्तिं, वीतरागत्वभावितः ॥२५॥

२५ सुस्थिर श्रद्धा से कषाय, वासना आदि की जो स्थायी विजय प्राप्त होतीहै वह वीतरागता की भावना से भावित होकर आत्मा की वृत्तियो को एकाग्र बनाती है।

भावनानाञ्च सातत्यं, श्रद्धां स्वात्मनि सुस्थिराम्।
लब्ध्वा स्वं लभते योगी, स्थिरचित्तो मिताशनः ॥२६॥

२६ चित्त को स्थिर रखने वाला और परिमित खाने वाला योगी अनित्य आदि भावनाओ की निरन्तरता और सुस्थिर श्रद्धा को प्राप्त कर अपने स्वरूप को पा लेता है।

पर्यङ्कासन मासीनः, स्थिरकाय ऋजुस्थितिः।
नासाग्रे पुद्‌गलेऽन्यत्र, न्यस्तदृष्टिः स्वमश्नुते ॥२७॥

२७ जो शरीर को स्थिर बनाकर तथा पर्यङ्कासन की मुद्रा में सीधा-सरल बैठकर नाक के अग्रभाग में या किसी दूसरी पौद्‌गलिक वस्तु में दृष्टि को स्थापित करता है, वह अपने स्वरूप को पा लेता है।

आत्मावशीकृतो येन, तेनात्मा विदितो ध्रुवम्।
अजितात्मा विदन् सर्वमपि नात्मानमृच्छति ॥२८॥

२८ जिसने आत्मा को वश मे कर लिया, उसने वास्तव में आत्मा को जान लिया। जिसने आत्मा को नही जीता, वह सब कुछ जानता हुआ भी आत्मा को नही पा सकता।

मोक्षाभिलाषः संवेगो, धर्मश्रद्धाऽस्ति तत्फलम्।
वैराग्यञ्च ततस्तस्माद्, ग्रन्थिभेदः प्रजायते ॥२९॥

२६. व्यक्ति में पहले मोक्ष की अभिलाषा अर्थात् संवेग होता है । संवेग का फल है धर्म-श्रद्धा । जब तक व्यक्ति मे मुमुक्षुभाव नही होता तब तक धर्म के प्रति श्रद्धा नही होती । धर्म-श्रद्धा का फल है वैराग्य । कोई भी व्यक्ति पौद्गलिक पदार्थों से तब तक विरक्त नही होता जब तक उसकी धर्म मे श्रद्धा नही होती । वैराग्य का फल है ग्रन्थि-भेद । आसक्ति से जो मोह की गाँठ घुलती है वह वैराग्य से खुल जाती है ।

भिन्ने ग्रन्थौ दृढाऽबद्धे, दृष्टिमोहो विशुद्धयति ।
चारित्र्यञ्च ततस्तस्मात्, शीघ्रं मोक्षो हि जायते ॥३०॥

३० दृढता से आबद्ध ग्रन्थि का भेद होने पर 'दर्शन-मोह' की विशुद्ध होती है—दृष्टिकोण सम्यक् बन जाता है । इसके पश्चात् चारित्र की प्राप्ति होतीहै । चारित्र की पूर्णता प्राप्त होने पर मोक्ष की उपलब्धि होती है ।

धर्मश्रद्धा जनयति, विरक्तिं क्षणिके सुखे ।
गृहं त्यक्त्वाऽनगारत्वं. विरक्तः प्रतिपद्यते ॥३१॥

३१ धार्मिक श्रद्धा से क्षणिक सुखों के प्रति विरक्ति का भाव उत्पन्न होताहै और विरक्त मनुष्य धर छोडकर अनगार बनताहै—मुनि धर्म को स्वीकार करता है ।

विरज्यमानः साबाधे, नाबाधे प्रयतः सुखे ।
अनाबाधसुखं मोक्षं, शाश्वतं लभते यतिः ॥३२॥

३२ जो मुनि बाधाओ से परिपूर्ण सुख से विरक्त होकर निर्बाध सुख को पाने का यत्न करता है वह निर्बाध सुख से सम्पन्न शाश्वत मोक्ष को प्राप्त होता है ।

अध्रुवेषु विरक्तात्मा, ध्रुवाप्तुं प्रचेष्टते।
सोऽध्रुवाणि परित्यज्य, ध्रुवं प्राप्नोति सत्वरम् ॥३३॥

३३. जो व्यक्ति अध्रुव-अशाश्वत तत्त्व से विरक्त होकर ध्रुव-तत्त्व को प्राप्त करने में प्रयत्नशील बनता है वह अध्रुव तत्त्व को छोड़कर शीघ्र ही ध्रुव तत्त्व को प्राप्त कर लेता है।

— — —

षष्ठ अध्याय

पृथक् छन्दाः प्रजा अत्र, पृथग्वादं क्रियाक्रियम् ।
क्रियां श्रद्दधते केचिदक्रियामपि केचन ।।१।।

१ संसार मे विभिन्न रुचि वाले लोग है। उनमे पृथक्-पृथक् वाद, जैसे—क्रियावाद-आत्मवाद और अक्रियावाद-अनात्मवाद आदि प्रचलित हैं। कई व्यक्ति आत्मा, कर्म आदि मे श्रद्धा करते है और कई व्यक्ति नही करते।

हिंसा-सूतानि दुःखानि, भयवैरकराणि च।
पश्य-व्याकरणे शंकां, पश्यन्त्यपश्यदर्शनाः ।।२।।

२ दुःख हिंसा से उत्पन्न होते है और उनसे भय व वैर बढता है—आत्म-द्रष्टा के इस निरूपण मे वे ही लोग शका करते है जो अनात्मदर्शी है।

सुकृतानां दुष्कृतानां, निर्विशेषं फलं खलु।
मन्यन्ते विफलं कर्म, कल्याणं पापकं तथा ।।३।।

३. अनात्मदर्शी लोग सुकृत और दुष्कृत के फल मे अन्तर नही मानते और भले बुरे कर्म का भला-बुरा फल भी नही मानते।

प्रत्यायान्ति न जीवाश्च, न भोगाः कर्मणां ध्रुवः।
इत्यास्थातो महेच्छाः स्युर्महोद्योग-परिग्रहाः ।।४।।

४. जीव मर कर वापस नही आते (फिर से जन्म धारण नहीं करते) और किए हुए कर्मों का फल भुगतना आवश्यक नही होता— इस आस्था से उनमें महत्त्वाकांक्षाए पनपती है। वे बड़े परिमाण में उद्योग या व्यापार करते है और प्रचुरमात्रा में धन का संग्रह करते है।

निःशीलाः पापिकां वृत्ति, कल्पयन्तः प्रवंचनाः।
उत्कोचना विमर्यादा, मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जते ॥५॥

५ वे शील-व्रत रहित होते है, पापपूर्ण आजीविका करते हैं, दूसरों को ठगते है, नियन्त्रण और मर्यादा विहीन होते है और मिथ्या-दण्ड का प्रयोग करते है—निरर्थक हिंसा करते है।

क्रोधं मानञ्च मायाञ्च, लोभञ्च कलहं तथा।
अभ्याख्यानञ्च पैशुन्यं, श्रयन्ते मोहसंवृताः ॥६॥

६ वे मोह से आच्छन्न होने के कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह, अभ्याख्यान (दोषारोपण) और चुगली का सेवन करते हैं।

गर्भान्ते गर्भमायान्ति, लभन्ते जन्म जन्मनः।
मृत्योर्मृत्युञ्च गच्छन्ति, दुःखाद् दुःखं व्रजन्ति च ॥७॥

७ वे गर्भ से गर्भ को, जन्म से जन्म को, मृत्यु से मृत्यु को और दु ख से दु.ख को प्राप्त होते रहते है।

क्रियावादिषु चामीभ्यस्तर्कणीयो विपर्ययः।
अप्येके गृहवासाःस्युः, केचित् सुलभबोधिकाः ॥८॥

८. आत्मवादियों की स्थिति उनसे नितान्त विपरीत होती है।

वे घर में रहते हुए भी धर्मोन्मुख होते है। उनमें कुछ लोग सुलभ-बोधि होते है।

दर्शनश्रावकाः केचिद्, व्रतिनो नाम केचन।
अगारमावसन्तोऽपि, धर्माराधनतत्पराः ॥६॥

६ कई दर्शन-श्रावक (सम्यक्दृष्टि) होते है, कई व्रती होते है। वे घर मे रहते हुए भी धर्म की आराधना करने मे तत्पर रहते है।

अणुव्रतानि गृह्णन्ति, प्रतिमाः श्रावकोचिताः।
गुणव्रतानि वा शिक्षा-व्रतानि विविधानि च ॥१०॥

१० वे पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत तथा श्रावकों के लिए उचित ग्यारह प्रतिमाओ को स्वीकार करते है।

एकेभ्यः सन्ति साधुभ्य., गृहस्थाः संयमोत्तराः।
गृहस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः, साधवः संयमोत्तराः ॥११॥

११ कई एक भिक्षुओ से गृहस्थो का सयम प्रधान होता है परन्तु सभी गृहस्थो से साधुओ का सयम प्रधान होता है।

भिक्षादा वा गृहस्था वा, ये सन्ति परिनिर्वृताः।
तपः संयममभ्यस्य, दिवं गच्छन्ति सुव्रताः ॥१२॥

१२. जो भिक्षु या गृहस्थ शान्त और सुव्रत होते हैं वे तप और सयम का अभ्यास करके स्वर्ग मे जाते हैं।

गृही सामायिकाङ्गानि, श्रद्धी कायेन संस्पृशेत्।
पौषधं पक्षयोर्मध्येऽप्येकरात्रं न हापयेत् ॥१३॥

१३ श्रद्धावान् गृहस्थ काया से सामायिक के अगों का आचरण

करे, दोनों पक्षों में किए जाने वाले पौषध को एक दिन रात भी न छोड़े—कभी न छोड़े।

एवं शिक्षासमापन्नो, गृहवासेऽपि सुव्रतः।
अमेध्यं देहमुज्झित्वा, देवलोकं च गच्छति ॥१४॥

१४ इस प्रकार शिक्षा से सम्पन्न सुव्रती (जीव) गृहवास में भी औदारिक शरीर से मुक्त होकर देवलोक में जाता है।

दीर्घायुष ऋद्धिमन्तः, समृद्धाः कामरूपिणः।
अधुनोत्पन्नसंकाशा, अर्चिमालीसमप्रभाः ॥१५॥
देवा दिवि भवन्त्येते, धर्मं स्पृशन्ति ये जनाः।
अगारीणोऽनगारा वा, संयमस्तत्र कारणम् ॥१६॥

१५–१६ जो गृहस्थ या साधु धर्म की आराधना करते हैं वे स्वर्ग में दीर्घायु, ऋद्धिमान्, समृद्ध, इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, अभी उत्पन्न हुए हों—ऐसी कान्तिवाले और सूर्य के जैसी दीप्ति वाले देव होते हैं। उसका कारण संयम है।

सर्वथा संवृतो भिक्षुर्द्वयोरन्यतरो भवेत्।
कृत्स्नकर्मक्षयान्मुक्तो, देवो वापि महर्द्धिकः ॥१७॥

१७ जो भिक्षु सर्वथा संवृत है—कर्म-आगमन के हेतुओं का निरोध किए हुए है—वह इन दोनों में से किसी एक अवस्था को प्राप्त होता है। सब कर्मों का क्षय हो जाए तो वह मुक्त हो जाता है अन्यथा समृद्धिशाली देव बनता है।

यथा त्रयो हि वणिजो, मूलमादाय निर्गताः।
एकोऽत्र लभते लाभमेको मूलेन आगतः ॥१८॥

हारयित्वा मूलमेकमागत स्तत्र वाणिजः।
उपमा व्यवहारेऽसौ, एवं धर्मेऽपि बुद्ध्यताम् ॥१६॥

१८–१६, जिस प्रकार तीन बनिये मूल-पूजी लेकर व्यापार के लिए चले। एक ने लाभ कमाया, एक मूल पूजी लेकर लौट आया और एक ने सब कुछ खो डाला। यह व्यावहारिक उदाहरण है, इसी प्रकार धर्म के विषय में जानना चाहिए।

मनुष्यत्वं भवेन्मूल, लाभः स्वर्गोऽमृतं तथा।
मूलच्छेदेन जीवाः स्युस्तिर्यञ्चो नारकास्तथा ॥२०॥

२० मनुष्य-जन्म मूल पूजी है। स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति लाभ-प्राप्ति है। मूल पूजी को खो डालने से जीव नरक या तिर्यञ्च गति को प्राप्त होते हैं।

विमात्राभिश्च शिक्षाभिर्ये नरा गृहसुव्रताः।
आयान्ति मानुषीं योनिं, कर्म-सत्या हि प्राणिनः ॥२१॥

२१ जो लोग विविध प्रकार की शिक्षाओं से गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी सुव्रती है (सदाचार का पालन करते हैं) वे मनुष्य-योनि को प्राप्त होते हैं, क्योंकि प्राणी कर्म-सत्य होते है—जैसे कर्म करते है वैसे ही फल को प्राप्त होते हैं।

येषां तु विपुला शिक्षा, ते च मूलमतिसृताः।
सकर्माणो दिवं यान्ति, सिद्धिं यान्त्यरजोमलाः ॥२२॥

२२ जिनके पास विपुल ज्ञानात्मक और क्रियात्मक शिक्षा है, वे मूल पूजी की वृद्धि करते है। वे कर्म युक्त हों तो स्वर्ग को

प्राप्त होते हैं और जब उनके रज और मल का (बन्धन और बन्धन के हेतु का) नाश हो जाता है तो वे मुक्त हो जाते हैं।

अगारमावसंल्लोकः, सर्वप्राणेषु संयतः ।
समतां सुव्रतो गच्छन्, स्वर्गं गच्छति नामृतम् ॥२३॥

२३ घर में निवास करने वाला व्यक्ति सब प्राणियों की स्थूल रूप से यतना करता है, जो सुव्रत है और जो समभाव की आराधना करता है वह स्वर्ग को प्राप्त होता है; किन्तु हिंसा और परिग्रह के बन्धन से सर्वथा मुक्त न होने के कारण वह मोक्ष को नहीं पा सकता।

दुःखावह इहामुत्र, धनादीनां परिग्रहः ।
मुमुक्षुः स्वं विवृक्षुश्च, को विद्वानगारमावसेत् ॥२४॥

२४ धन आदि पदार्थों का सग्रह इहलोक और परलोक मे दु खदायी होता है। अत मुक्त होने की इच्छा रखने वाला और आत्मसाक्षात्कार की भावना रखने वाला कौन ऐसा विद्वान व्यक्ति होगा जो घर मे रहे ?

प्रमादं कर्म तत्राहुरप्रमादं तथापरम् ।
तदभावाद्देशतस्तच्च, बालं पण्डितमेव वा ॥२५॥

२५ प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म। प्रमादयुक्त प्रवृत्ति बध का और अप्रमत्तता मुक्ति का हेतु है। प्रमाद और अप्रमाद के योग से व्यक्ति के वीर्य-पराक्रम को बाल और पण्डित कहा जाता है तथा अभेद दृष्टि से वीर्यवान् व्यक्ति भी बाल और पण्डित कहलाता है।

प्रतीत्याऽविरतिं बालो, द्वयञ्च बालपण्डितः।
विरतिञ्च प्रतीत्यापि, लोकः पण्डित उच्यते।।२६।।

२६. अविरति की अपेक्षा से व्यक्ति को बाल, विरति-अविरति की अपेक्षा से बाल-पण्डित और विरति की अपेक्षा से पण्डित कहा जाता है।

सप्तम अध्याय

आज्ञायां मामको धर्म, आज्ञायां मामकं तपः।
आज्ञामूढा न पश्यन्ति, तत्त्वं मिथ्याग्रहोद्धताः ॥१॥

१ भगवान् ने कहा—मेरा धर्म आज्ञा में है, मेरा तप आज्ञा मे है। जो मिथ्या आग्रह से उद्धत और आज्ञा का मर्म समझने मे मूढ हैं वे तत्त्व को नही देख सकते।

वीतरागेण यद् दृष्टमुपदिष्टं समर्थितम्।
आज्ञा सा प्रोच्यते बुद्धैर्भव्यानामात्मसिद्धये ॥२॥

२ वीतराग ने जो देखा, जिसका उपदेश किया और जिसका समर्थन किया वह आज्ञा है—ऐसा तत्त्वज्ञ पुरुषो ने कहा है। आज्ञा भव्यजीवो के आत्म-सिद्धि का हेतु है।

तदेव सत्यं निःशङ्कं, यज्जिनेनप्रवेदितम्।
राग-द्वेष-विजेतृत्वाद्, नान्यथा वेदिनो जिनाः ॥३॥

३ जो जिन (वीतराग) ने कहा वही सत्य और असदिग्ध है। वीतराग ने राग और द्वेष को जीत लिया इसलिए उनका ज्ञान अयथार्थ नही होता और वे अयथार्थ तत्त्व का निरूपण नही करते।

आज्ञायामरतिर्योगिन्, अनाज्ञायां रतिस्तथा।
माभूयात्ते क्वचिद् यस्मादाज्ञाहीनो विषीदति ॥४॥

४. हे योगिन् ! आज्ञा में तेरी अरति (अप्रसन्नता) और अनाज्ञा मे रति (प्रसन्नता) कही भी न हो, क्योकि आज्ञाहीन साधक अन्त मे विषाद को प्राप्त होता है।

अपरा तीर्थकृत् सेवा, तदाज्ञापालनं परम्।
आज्ञाराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥५॥

५ तीर्थंकर की पर्युपासना की अपेक्षा उनकी आज्ञा का पालन करना विशिष्ट है। आज्ञा की आराधना करने वाले मुक्ति को प्राप्त होते है और उससे विपरीत चलने वाले ससार मे भटकते है।

आज्ञायाः परमं तत्त्वं, राग-द्वेष-विवर्जनम्।
एताभ्यामेव संसारो, मोक्षस्तन्मुक्तिरेव च ॥६॥

६ आज्ञा का परम सार है—राग और द्वेष का वर्जन। ये ही ससार (या बन्धन) के हेतु हैं और इनसे मुक्त होना ही मोक्ष है।

आराधको जिनाज्ञायाः, संसारं तरति ध्रुवम्।
तस्याविराधको भूत्वा, भवाम्भोधौ निमज्जति ॥७॥

७ वीतराग की आज्ञा की आराधना करने वाला निश्चित रूप से ससार को तर जाता है और उसकी विराधना करने वाला भव-सागर मे डूब जाता है।

आज्ञायां यस्य श्रद्धालुर्मेधावी स इहोच्यते।
असंयमो जिनानाज्ञा, जिनाज्ञा संयमो ध्रुवम् ॥८॥

८ जो आज्ञा के प्रति श्रद्धावान् है वह मेधावी है। असयम की प्रवृत्ति मे वीतराग की आज्ञा नही है। वीतराग की आज्ञा का अर्थ है—सयम। जहाँ सयम है वही वीतराग की आज्ञा है।

इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि 'जहाँ वीतराग की आज्ञा है वही सयम है'।

संयमे जीवनं श्रेयः, संयमे मृत्युरुत्तमः ।
जीवनं मरणं मुक्त्यै, नैव स्यातामसंयमे ॥९॥

९ सयममय जीवन और सयममय मृत्यु श्रेय है। असंयममय जीवन और असयममय मरण से मुक्ति प्राप्त नही होती।

हिंसानृतं तथास्तेयाऽब्रह्मचर्य-परिग्रहाः ।
ध्रुवं प्रवृत्तिरेतेषामसंयम इहोच्यते ॥१०॥

१०. हिसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह की प्रवृत्ति 'असयम' कहलाती है।

एतेषां विरतिः प्रोक्तः, संयमस्तत्त्ववेदिना ।
पूर्णा सा पूर्ण एवासौ, अपूर्णायाञ्चसोंऽशतः ॥११॥

११ तत्त्वज्ञो ने हिसा आदि की विरति 'सयम' कहा है। पूर्ण विरति से पूर्ण सयम और अपूर्ण विरति से आशिक संयम होता है।

पूर्णस्याराधकः प्रोक्तः, संयमी मुनिरुत्तमः ।
अपूर्णाराधकः प्रोक्तः, श्रावकोऽपूर्ण-संयमी ॥१२॥

१२ पूर्ण-सयम की आराधना करने वाला सयमी उत्तम मुनि कहलाता है और अपूर्ण-सयम की आराधना करने वाला अपूर्ण-सयमी या श्रावक कहलाता है।

राग-द्वेष-विनिर्मुक्त्यै, विहिता देशना जिनैः ।
अहिंसा स्यात्तयोर्मोक्षो, हिंसा तत्र प्रवर्तनम् ॥१३॥

१३. वीतराग ने राग और द्वेष से विमुक्त होने के लिए उपदेश दिया। राग और द्वेष से मुक्त होना अहिंसा है और उनमें प्रवृत्ति करना हिंसा है।

आरम्भाच्च विरोधाच्च, संकल्पाज्जायते खलु।
तेन हिंसा त्रिधा प्रोक्ता, तत्त्वदर्शन कोविदैः ॥१४॥

१४. हिंसा करने के तीन हेतु है --आरम्भ, विरोध और संकल्प। अत तत्त्व-ज्ञानी पण्डितो ने हिंसा के तीन भेद बतलाये है -- आरम्भजा-हिंसा, विरोधजा-हिंसा और संकल्पजा-हिंसा।

कृषौ रक्षा च वाणिज्यं, शिल्पं यद्यच्च वृत्तये।
क्रियते सारम्भजा हिंसा, दुर्वार्या गृह-मेधिना ॥१५॥

१५ कृषि, रक्षा, व्यापार, शिल्प और आजीविका के लिए जो हिंसा की जाती है उसे 'आरम्भजा-हिंसा' कहा जाता है। इस हिंसा से गृहस्थ बच नही पाता।

आक्रामतां प्रतिरोधः, प्रत्याक्रमण पूर्वकम्।
क्रियते शक्तियोगेन, हिंसा स्यात् सा विरोधजा ॥१६॥

१६ आक्रमणकारियो का प्रत्याक्रमण के द्वारा बलपूर्वक प्रतिरोध किया जाता है वह 'विरोधजा-हिंसा' है।

रागो द्वेषः प्रमादश्च, यस्याः मुख्यं प्रयोजकम्।
हेतुर्गौणो न वा वृत्तेर्हिसा संकल्पजास्ति सा ॥१७॥

१७ जिस हिंसा के प्रयोजक--प्रेरक राग-द्वेष और प्रमाद होते हैं और जिसमे आजीविका का प्रश्न गौण होता है या नही होता, वह 'संकल्पजा-हिंसा' है।

सर्वथा सर्वदा सर्वा, हिंसा वर्ज्या हि संयतैः ।
प्राणघातो न वा कार्यः, प्रमादाचरणं तथा ।।१८।।

१८ संयमी पुरुषो को सब काल में, सब प्रकार से, सब हिंसा का वर्जन करना चाहिए, न प्राणघात करनी चाहिए और न प्रमाद का आचरण।

व्यर्थं कुर्वीत नारम्भं, श्राद्धो नाक्रामको भवेत् ।
हिंसां संकल्पजां नूनं, वर्जयेद् धर्ममर्मवित् ।।१९।।

१९ धर्म के मर्म को जानने वाला श्रावक निरर्थक हिंसा न करे, आक्रमणकारी न बने और सकल्पजा-हिंसा का अवश्य वर्जन करे।

अहिंसैव विहितोस्ति, धर्मः संयमिनो ध्रुवम् ।
निषेधः सर्वहिंसाया, द्विविधा वृत्तिरस्य यत् ।।२०।।

२० सयमी पुरुष के लिए अहिंसा धर्म ही विहित है और सब प्रकार की हिंसा वर्जित है। सयमी का वर्त्तन दो प्रकार से होता है—समिति-पूर्वक और गुप्ति-पूर्वक। चारित्र की प्रवृत्ति के लिए समितियाँ है और अशुभ प्रवृति का निरोध करने के लिए गुप्तियाँ। समिति विधेयात्मक अहिसा है और गुप्ति निषेधात्मक अहिसा।

अहिंसाया आचरणे, विधानञ्च यथास्थितिः ।
संकल्पजा-निषेधश्च, श्रावकाय कृतो मया ।।२१।।

२१ श्रावक के लिए मैंने यथाशक्ति अहिंसा के आचरण का विधान और सकल्पजा-हिंसा का निषेध किया है।

अविहिताऽनिषिद्धा च, तृतीयावृत्तिरस्य सा ।
सर्व-हिंसा-परित्यागी, नासौ तेन प्रवर्तते ।।२२।।

२२ गृहस्थ की तीसरी वृत्ति जो है वह न विहित है और न निषिद्ध । वह सर्व हिंसा का परित्यागी नही होता इसलिए उस वृत्ति का अवलम्बन लेता है ।

हिंसा विधानं शक्यं न, तेन साऽविहिता मया ।
अनिवार्या जीविकार्यं, निरोद्धुं शक्यते न तत् ।।२३।।

२३ हिंसा का विधान नही किया जा सकता इसलिए वह मेरे ारा अविहित है और आजीविका के लिए जो अनिवार्य हिंसा होती उसका निरोध नही किया जा सकता इसलिए वह अनिषिद्ध है ।

द्विविधो गृहिणां धर्म, आत्मिको लौकिकस्तथा ।
संवरो निर्जरापूर्वः, समाजाभिमतोऽपरः ।।२४।।

२४ गृहस्थो का धर्म दो प्रकार का होता है– आत्मिक और लौकिक । आत्मिक धर्म के दो प्रकार है–सवर और निर्जरा । समाज के द्वारा अभिमत धर्म को लौकिक-धर्म कहा जाता है ।

आत्मशुद्धयं भवेदाद्यो, देशितः स मया ध्रुवम् ।
समाजस्य प्रवृत्त्यर्थं, द्वितीयो वर्त्यते जनैः ।।२५।।

२५ आत्मिक-धर्म आत्मशुद्धि के लिए होता है । इसलिए मैंने उसका उपदेश किया है । लौकिक-धर्म समाज की प्रवृत्ति के लिए होता है । उसका प्रवर्तन सामाजिक जनो के द्वारा किया जाता है ।

आत्मधर्मो मुमुक्षूणां, गृहिणाञ्च समोमतः।
पालनापेक्षया भेदो, भेदो नास्ति स्वरूपतः ॥२६॥

२६. आत्म-धर्म साधु और गृहस्थ दोनो के लिए समान है। धर्म के जो विभाग हैं वे पालन करने की अपेक्षा से किये गये हैं। स्वरूप की दृष्टि से वह एक है, उसका कोई विभाग नही होता।

पाल्यते साधुभिः पूर्णः, श्रावकैश्च यथाक्षमम्।
यत्र धर्मोहि साधूनां, तत्रैव गृहमेधिनाम् ॥२७॥

२७ साधु धर्म का पूर्ण रूप से पालन करते है और श्रावक उसका पालन यथाशक्ति (एक निश्चित मर्यादा के अनुसार) करते है। जो कार्य करने से साधु को धर्म होता है वही कार्य करने से गृहस्थ को धर्म होता है। ऐसा नही होता कि अहिसा गृहस्थ के लिए धर्म हो और साधु के लिए अधर्म अथवा साधु के लिए धर्म हो और गृहस्थ के लिए अधर्म। तात्पर्य यही है कि गृहस्थ का धर्म साधु के धर्म से भिन्न नही किन्तु उसी का एक अश है।

तीर्थङ्करा अभूवन् ये, विद्यन्ते ये च सम्प्रति।
भविष्यन्ति च ते सर्वे, भाषन्ते धर्ममीदृशम् ॥२८॥

२८ जो तीर्थङ्कर अतीत में हुए, जो वर्तमान मे है और जो भविष्य मे होगे, वे सब ऐसे ही धर्म का निरूपण करते है।

सर्वे जीवा न हन्तव्याः, कार्या पीडापि नाल्पिका।
उपद्रवो न कर्तव्यो, नाज्ञाप्या बल-पूर्वकम् ॥२९॥
न वा परिगृहीतव्या, दास-कर्म-नियुक्तये।
एष धर्मो ध्रुवो नित्यः, शाश्वतो जिनदेशितः ॥३०॥

२९-३० "सब जीवों का हनन नहीं करना चाहिए, न उन्हें किंचित पीड़ित करना चाहिए, न उपद्रव करना चाहिए, न बल पूर्वक उन पर शासन करना चाहिए और दास बनाने के लिए उन्हें अपने अधीन नहीं रखना चाहिए"—यह धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और वीतराग के द्वारा निरूपित है।

न विरुद्ध्येत केनापि, न बिभियान्न भाययेत्।
अधिकारान्न मुष्णीयान्न जातेर्गर्वमुद्वहेत् ॥३१॥

३१ मनुष्य किसी के साथ विरोध न करे, न किसी से डरे और न किसी को डराए, न किसी के अधिकारों का अपहरण करे और न जाति का गर्व करे।

न कुलस्य न रूपस्य, न बलस्य श्रुतस्य च।
नैश्वर्यस्य न लाभस्य, न मदं तपसः सृजेत् ॥३२॥

३२ मनुष्य कुल का मद न करे, रूप का मद न करे, बल का मद न करे, श्रुत का मद न करे, ऐश्वर्य का मद न करे, लाभ का मद न करे और तप का मद न करे।

न तुच्छान् भावयेज्जीवान्, न तुच्छं भावयेन्निजम्।
सर्व-भूतात्मभूतो हि, स्यादहिंसापरायणः ॥३३॥

३३ मनुष्य दूसरों को तुच्छ न समझे और अपने को भी तुच्छ न समझे। जो सब जीवों को अपनी आत्मा के समान समझता है वह अहिंसा-परायण है।

अहिंसाऽऽराधिता येन, ममाज्ञा तेन साधिता।
आराधितोस्मि तेनाहं, धर्मस्तेनात्मसात्कृतः ॥३४॥

३४. जिसने अहिंसा की आराधना की उसने मेरी आज्ञा की आराधना की है, उसने मुझे आराध लिया है और उसने धर्म को आत्मा में उतार लिया है।

अहिंसा विद्यते यत्र, ममाज्ञा तत्र विद्यते।
ममाज्ञायामहिंसायां, न विशेषोस्ति कश्चन ॥३५॥

३५ जहा अहिंसा है वहा मेरी आज्ञा है। मेरी आज्ञा और अहिंसा मे कोई भेद नही है।

शरणमिव भीतानां, क्षुधितानामिवाशनम्।
तृषितानामिव जलमहिंसा भगवत्यसौ ॥३६॥

३६ यह भगवती अहिंसा भयभीत व्यक्तियो के लिए शरण, भूखो के लिए भोजन और प्यासो के लिए पानी की तरह है।

शुद्धं शिवं सुकथितं, सुदृष्टं सुप्रतिष्ठितम्।
सारभूतञ्च लोकेऽस्मिन्, सत्यमस्ति सनातनम् ॥३७॥

३७ इस लोक मे सत्य ही सारभूत है, वह शुद्ध है, शिव है, तीर्थङ्करों के द्वारा सम्यक् प्रकार से कहा हुआ है, सम्यक् प्रकार से देखा हुआ है, सम्यक् प्रकार से प्रतिष्ठित है और शाश्वत है।

महातृष्णा प्रतीकारं, निर्भयञ्च निराश्रवम्।
उत्तमानामभिमतमदत्तस्य विवर्जनम् ॥३८॥

३८ जो चोरी का वर्जन करता है उसकी तृष्णा बुझ जाती है, वह निर्भय और निराश्रव हो जाता है और ऐसा करना उत्तम पुरुषों द्वारा अभिमत है।

कृतध्यानकपाटञ्च, संयमेन सुरक्षितम् ।
अध्यात्मवत्सपरिघं, ब्रह्मचर्यमनुत्तमम् ।।३९।।

३९. ब्रह्मचर्य अनुत्तर धर्म है। सयम के द्वारा वह सुरक्षित है। उसकी सुरक्षा का किवाड है ध्यान और उसकी आगल है अध्यात्म।

कृताकम्पमनोभावो, भावनानां विशोधकः ।
सम्यक्त्व शुद्धमूलोऽस्ति, धृतिकन्दोऽपरिग्रहः ।।४०।।

४० अपरिग्रह से मन की चपलता दूर हो जाती है, भावनाओं का शोधन होता है। उसका शुद्ध मूल है सम्यक्त्व और धैर्य उसका कन्द है।

अष्टम अध्याय

मेघः प्राह—

किं बन्धः किञ्चमोक्षस्तौ, जायेते कथमात्मनाम् ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि, सर्वदर्शिंस्तवान्तिके ॥१॥

१ मेघ बोला—हे सर्वदर्शिन् ! बन्ध किसे कहते हैं, मोक्ष किसे कहते हैं, आत्मा का बन्धन कैसे होता है और मुक्ति कैसे होती है, यह मैं सुनना चाहता हूँ ।

भगवान् प्राह—

पुद्गलानां स्वीकरणं, बन्धोजीवस्य भण्यते ।
अस्वीकारः प्रक्षयो वा, तेषां मोक्षो भवेद् ध्रुवम् ॥२॥

२ भगवान् ने कहा—आत्मा के द्वारा पुद्गलों का जो ग्रहण होता है वह बन्ध कहलाता है। जिस अवस्था में पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता और गृहीत पुद्गलों का क्षय हो जाता है उस स्थिति का नाम मोक्ष है ।

प्रवृत्त्या बद्ध्यते जीवो, निवृत्त्या च विमुच्यते ।
प्रवृत्तिर्बन्धहेतुः स्यान्निवृत्तिर्मोक्षकारणम् ॥३॥

३ प्रवृत्ति के द्वारा जीव कर्मों से आबद्ध होता है और निवृत्ति के द्वारा वह कर्मों से मुक्त होता है। प्रवृत्ति बन्ध का हेतु है और निवृत्ति मोक्ष का ।

प्रवृत्तिरास्रवः प्रोक्तो, निवृत्तिः संवरस्तथा।
प्रवृत्तिः पञ्चधा ज्ञेया, निवृत्तिश्चापि पञ्चधा ॥४॥

४. प्रवृत्ति आस्रव है और निवृत्ति सवर। प्रवृत्ति के पांच प्रकार है और निवृत्ति के भी पाच प्रकार हैं।

मिथ्यात्वञ्चाऽविरतिश्च, प्रमादश्च कषायकः।
सूक्ष्माऽस्माऽध्यवसायश्च, स्पन्दरूपाः प्रवृत्तयः ॥५॥

५ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय—ये चार सूक्ष्म-अव्यक्त प्रवृत्तिया है। इनमे आत्मा के अध्यवसायो का सूक्ष्म स्पन्दन होता है।

योगः स्थूला स्थूल-बुद्धि-गम्या प्रवृत्तिरिष्यते।
स्वतन्त्रो व्यक्तिहेतुश्च, ह्यव्यक्तानां चतसृणाम् ॥६॥

६ योग स्थूल-व्यक्त प्रवृत्ति है। वह स्थल बुद्धि से जानी जा सकती है। वह स्वतन्त्र भी है और पूर्वोक्त चारो सूक्ष्म प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का हेतु भी है।

मिथ्यात्वं वा विरतिर्वा, प्रमादो वा कषायकः।
व्यक्तरूपो भवेद् योगो, मानसो वाचिकोऽङ्गिकः ॥७॥

७ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और इनका व्यक्त-रूप-योग, ये पाच आस्रव हैं। इनमे योग तीन प्रकार का है—मानसिक, वाचिक और कायिक।

योगः शुभोऽशुभो वापि, चतस्रो ह्यशुभा ध्रुवम्।
निवृत्तिवलिता वृत्तिः, शुभो योगस्तपोमयः ॥८॥

८. योग शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है और चार सूक्ष्म प्रवृत्तियाँ अशुभ ही होती हैं। निवृत्ति-युक्त वर्तन शुभयोग कहलाता है और वह तप-रूप होता है।

अविरतिर्दुष्प्रवृत्तिः सुप्रवृत्तिस्त्रियास्रवः।
यथाक्रमं निवृत्तिश्च, चतुर्था कर्म देहिनाम् ॥९॥

९ अविरति, दुष्प्रवृत्ति, सुप्रवृत्ति और निवृत्ति—प्राणियों की ये चार क्रियाएं हैं। इनमें प्रथम तीन आस्रव हैं और निवृत्ति संवर है।

अशुभैः पुद्गलैर्जीवं, बध्नीतः प्रथमे उभे।
तृतीयं खलु बध्नाति, शुभैरेभिश्च संसृतिः ॥१०॥

१० अविरति और दुष्प्रवृत्ति अशुभ पुद्गलों से और सुप्रवृत्ति शुभ पुद्गलों से जीव को आबद्ध करती है। शुभ और अशुभ पुद्गलों का बन्धन ही संसार है।

अशुभांश्च शुभांश्चापि, पुद्गलांस्तत्फलानि च।
विजहाति स्थितात्माऽसौ, मोक्षं यात्यपुनर्भवम् ॥११॥

११ जो स्थितात्मा शुभ-अशुभ पुद्गल और उनके द्वारा प्राप्त होने वाले फल का त्याग करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है। फिर वह कभी जन्म ग्रहण नहीं करता।

अशुभानां पुद्गलानां, प्रवृत्त्या शुभया क्षयः।
असंयोगः शुभानाञ्च, निवृत्त्या जायते ध्रुवम् ॥१२॥

१२. शुभ-प्रवृत्ति से पूर्वार्जित-बद्ध अशुभ पुद्गलों (पाप-कर्मों)

का क्षय होता है और उसकी निवृत्ति से कर्म पुद्गलों का सयोग, जो आत्मा से होता है, वह रुक जाता है।

निवृत्तिः पूर्णतामेति, शैलेशीञ्च दशांश्रितः।
अप्रकम्पस्तदा योगी, मुक्तो भवति पुद्गलैः ॥१३॥

१३ जब निवृत्ति पूर्णता को प्राप्त होती है तब योगी शैलेशी दशा को प्राप्त होकर अप्रकम्प बनता है और पुद्गलो से मुक्त हो जाता है।

सम्यक्त्वं विरतिस्तद्वदप्रमादोऽकषायकः।
अयोगः पञ्चरूपेयं, निवृत्तिः कथिता मया ॥१४॥

१४ सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग--मैंने इस पाच प्रकार की निवृत्ति का निरूपण किया है।

अतत्त्वे तत्त्वसंज्ञानममोक्षे मोक्षधीस्तथा।
अधर्मे धर्मसंज्ञानं, मिथ्यात्वं द्विविधञ्चतत् ॥१५॥

१५ अतत्त्व मे तत्त्व का सज्ञान करना, अमोक्ष मे मोक्ष की बुद्धि करना और अधर्म में धर्म का सज्ञान करना मिथ्यात्व कहलाता है। उसके दो प्रकार हैं--आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक।

आभिग्रहिकमाख्यातमसत्तत्त्वे दुराग्रहः।
अनाभिग्रहिकं वत्स! अज्ञानाज्जायतेऽङ्गिनाम् ॥१६॥

१६. वत्स! अयथार्थ तत्त्व मे यथार्थता का दुराग्रह होना आभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है और जो यथार्थ तत्त्व का ज्ञान नही होता वह अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है।

तत्त्वे मोक्षे च धर्मे च, यथार्थः प्रत्ययः स्फुटम्।
सम्यक्त्वं तच्च जायेत, निसर्गादुपदेशतः ॥१७॥

१७. तत्त्व, मोह और धर्म का जो यथार्थ और स्पष्ट ज्ञान होता है वह सम्यक्त्व कहलाता है। उसकी प्राप्ति निसर्ग से (दर्शन मोहनीय कर्म का विलय होने से) होती है और उपदेश से (गुरु के पास तत्त्व को जानने से) भी होती है। निसर्ग से प्राप्त होने वाली सम्यक्त्व को नैसर्गिक और उपदेश से प्राप्त होने वाली सम्यक्त्व को आधिगमिक कहा जाता है।

आसक्तिश्च पदार्थेषु, व्यक्ताव्यक्तोभयात्मिका।
अविरतिर्विरतिश्च, तदासक्ति विवर्जनम् ॥१८॥

१८ पदार्थों में जो व्यक्त या अव्यक्त आसक्ति होती है वह 'अविरति' कहलाती है। पदार्थासक्ति का परित्याग करना 'विरति' है।

अशुभस्यापि योगस्य, त्यागो विरतिरिष्यते।
देशतः सर्वतश्चापि, यथाबलमुरीकृता ॥१९॥

१९ अशुभ योग का त्याग भी विरति कहलाता है। वह विरति यथाशक्ति (अंशत या पूर्णत) स्वीकार की जाती है।

अनुत्साहः सात्मरूपे, प्रमादः कथितो मया।
जागरूका भवेद् वृत्तिरप्रमादस्तथाऽऽत्मनि ॥२०॥

२० अपने आत्मविकास के प्रति जो अनुत्साह होता है उसे मैंने 'प्रमाद' कहा है और आत्मविकास के प्रति जो जागरूक मनोभाव होता है उसे मैं 'अप्रमाद' कहता हूँ।

क्रोधो मानं तथा माया, लोभश्चेति कषायकः।
एषां निरोध आख्यातोऽकषायः शान्तिसाधनम् ॥२१॥

२१. क्रोध, मान, माया और लोभ—इन्हे कषाय कहा जाता है। इनके निरोध को मैंने 'अकषाय' कहा है और वह शान्ति का साधन है।

कायवाङ्‌ मनसां कर्म, योगो भवति देहिनाम्।
सर्वासाञ्च प्रवृत्तीनां, निरोधोऽयोग इष्यते ॥२२॥

२२ जीवो के मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति को 'योग' और सब प्रकार की प्रवृत्तियो के निरोध को 'अयोग' कहता हूँ।

पूर्वं भवति सम्यक्त्वं, विरतिर्जायते ततः।
अप्रमादोऽकषायश्च, योगो मुक्तिस्ततोध्रुवम् ॥२३॥

२३ पहले सम्यक्त्व होता है फिर विरति होती है। उसके पश्चात् क्रमश अप्रमाद, अकषाय और अयोग होता है। अयोगावस्था प्राप्त होते ही आत्मा की मुक्ति हो जाती है।

अमनोज्ञसमुत्पादं, दुःखं भवति देहिनाम्।
समुत्पादमजानाना, न हि जानन्ति सवरम् ॥२४॥

२४ जीवो के लिए अमनोज्ञ परिस्थिति उत्पन्न होने का जो हेतु है वह दु ख है। जो इस समुत्पाद (दु खोत्पत्ति) के हेतु को नही जानते वे सवर (दु ख निरोध) के हेतु को भी नही जानते।

रागो द्वेषश्च तद्धेतुर्वीतरागदशा सुखम्।
रत्नत्रयी च तद्धेतुरेष योगः समासतः ॥२५॥

२५ दु ख के हेतु राग और द्वेष हैं। वीतराग दशा सुख है और उसका हेतु है रत्नत्रयी—सम्यक्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र। योग का यह मैंने सक्षिप्त निरूपण किया है।

मेघः प्राह—

भद्रं भद्रं तीर्थनाथ ! तीर्थे नीतोऽस्म्यहं त्वया ।
भावितात्मा स्थितात्मा च, त्वया जातोऽस्मि सम्प्रति ॥२६॥

२६ मेघ बोला—हे तीर्थनाथ ! अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ । आपके प्रसाद से मैं तीर्थ में आ गया हूँ और आपके अनुग्रह से मैं अब भावितात्मा (संयम से सुवासित आत्मा वाला) और स्थितात्मा हो गया हूँ ।

नष्टो मोहो गतं क्लैव्यं, शुद्धा बुद्धिः स्थिरं मनः ।
पुनर्मौनं तवाभ्यर्णे, स्वीचिकीर्षामि साम्प्रतम् ॥२७॥

२७ अब मेरा मोह नष्ट हो गया है, क्लैव्य चला गया है, बुद्धि शुद्ध हो गई है और मन स्थिर बन गया है । अब मैं पुनः आपके पास श्रामण्य स्वीकार करना चाहता हूँ ।

प्रायश्चित्तञ्च वाञ्छामि, पूर्वमालिन्यशुद्धये ।
चेतः समाधये भूयः, कामये धर्मदेशनाम् ॥२८॥

२८ पहले जो मेरे मन में कलुष भाव आया उसकी शुद्धि के लिए मैं प्रायश्चित करना चाहता हूँ और चित्त की समाधि के लिए आपसे पुनः धर्म-देशना सुनना चाहता हूँ ।

नवम अध्याय

मेघः प्राह—

ज्ञानंप्रकाशक तत्र, मिथ्या सम्यक्त्वकल्पना।
क्रियते कोऽत्र हेतुः स्याद्, बोद्धुमिच्छामि सम्प्रति ॥१॥

१. मेघ बोला—ज्ञान प्रकाश करने वाला है। फिर मिथ्या-ज्ञान और सम्यग्ज्ञान ऐसा जो विकल्प किया जाता है, उसका क्या कारण है? अब मैं यह जानना चाहता हूँ।

भगवान् प्राह—

ज्ञानस्यावरणेन स्यादज्ञानं तत्प्रभावतः।
अज्ञानी नैव जानाति, वितथं वा यथातथम् ॥२॥

२ भगवान् ने कहा—ज्ञान पर आवरण आने से अज्ञान होता है। उसके प्रभाव से अज्ञानी जीव सत्य और झूठ को नही जान पाता।

नैतद् विकुरुते लोकान्, नापि संस्कुरुते क्वचित्।
केवलं सहजालोकमावृणोति निजात्मनः ॥३॥

३ यह आवरण जीवो को न विकृत बनाता है और न सस्कृत। यह केवल अपनी आत्मा के सहज प्रकाश को ढकता है।

ज्ञानस्यावरणं यावद्, भावशुद्धया विलीयते।
अव्यक्तो व्यक्ततामेति, प्रकाशस्तावदात्मनः ॥४॥

४. भावो की विशुद्धि के द्वारा जितना ज्ञान का आवरण विलीन होता है उतना ही आत्मा का अव्यक्त प्रकाश व्यक्त होता है।

पदार्थास्तेन भासन्ते, स्फुटं देहभृताममी।
ज्ञानमात्रमिदं नाम, विशेषस्याऽविवक्षया ॥५॥

५. आत्मा के उस प्रकाश से पदार्थ स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होते है। यदि उसके विभाग न किये जाये तो उस प्रकाश को सिर्फ ज्ञान ही कहा जा सकता है।

आत्मा ज्ञानमयोऽनन्तं, ज्ञानं नाम तदुच्यते।
अनन्तान् गुणपर्यायान्, तत्प्रकाशितुमर्हति ॥६॥

६. आत्मा ज्ञानमय है। उसका ज्ञान अनन्त है। वह अनन्त गुण और पदार्थों को जानने मे समर्थ है।

आवारकघनत्वस्य, तारतम्यानुसारतः।
प्रकाशी चाप्रकाशी च, सवितेव भवत्यसौ ॥७॥

७ आवरण की सघनता के तारतम्य से यह आत्मा सूर्य की भांति प्रकाशी और अप्रकाशी होती है।

उभयालम्बनं तत्तु, संशयज्ञानमुच्यते।
वेदनं विपरीतं तु, मिथ्याज्ञानं विपर्ययः ॥८॥

८ वह ठूंठ है या पुरुष—इस प्रकार का उभयालम्बी ज्ञान 'सशय ज्ञान' कहलाता है। जो पदार्थ जैसा है उससे वितरीत जानना विपर्यय नामक मिथ्याज्ञान है।

तार्किकी दृष्टिरेषाऽस्ति, दृष्टिरागमिकी परा।
मिथ्यादृष्टिर्भवेज्ज्ञानं, मिथ्याज्ञानं तदीक्षया ॥९॥

९. यह तार्किक दृष्टि का निरूपण है। आगमिक दृष्टि का निरूपण इससे भिन्न है। उसके अनुसार मिथ्यादृष्टि व्यक्ति का ज्ञान, असत् पात्र की अपेक्षा से, मिथ्याज्ञान कहलाता है।

आत्मीयेषु च भावेषु, नात्मानं यो हि पश्यति।
तीव्रमोहविमूढात्मा, मिथ्यादृष्टिः स उच्यते ॥१०॥

१०. जो आत्मीय गुणो मे आत्मा को नही देखता और तीव्र (अनन्तानुबन्धी) मोह के उदय से जिसकी आत्मा विमूढ़ है, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है।

यथार्थनिर्णयः सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमिष्यते।
दृष्टिः प्रामाणिकी चैषा, दृष्टिरागमिकी परा ॥११॥

११ वस्तु का यथार्थ निर्णय करने वाला सम्यग्ज्ञान 'प्रमाण' कहलाता है—यह प्रामाणिक दृष्टि है और आगमिक दृष्टि इससे भिन्न है।

सम्यग् दृष्टेर्भवेज्ज्ञानं, सम्यग्ज्ञानं तदीक्षया।
धुतमोहो निजं पश्यन्, सम्यग्दृष्टिरसौ भवेत् ॥१२॥

१२. सम्यग्दृष्टि व्यक्ति का ज्ञान सत्-पात्र की अपेक्षा से सम्यग्-ज्ञान कहलाता है। जिसका दर्शन-मोह विलीन हो गया है और जो आत्मा को देखता है, वह सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।

पदार्थज्ञानमात्रेण, न ज्ञानं सम्यगुच्यते।
आत्मलीनस्वभावं यत्, तज्ज्ञानं सम्यगुच्यते ॥१३॥

१३. पदार्थों को जान लेने मात्र से ज्ञान को सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता। जिस ज्ञान का स्वभाव आत्मा में लीन होना है, वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

सदसतोर्विवेकेन स्थैर्यं, चित्तस्य जायते।
स्थितात्मा स्थापयेदन्यान्, नास्थिरात्माऽपि साक्षरः ॥१४॥

१४ सत् और असत् के विवेक होने पर चित्त की स्थिरता होती है। स्थितात्मा दूसरो को धर्म में स्थापित करता है। जो स्थितात्मा नही होता, वह साक्षर होने पर भी यह कार्य नही कर सकता।

भविष्यति मम ज्ञानमध्येतव्यमतो मया।
अजानन् सदसत्तत्त्वं, न लोकः सत्यमश्नुते ॥१५॥

१५. मुझे ज्ञान होगा—इस उद्देश्य से मुझे अध्ययन करना चाहिए। जो जीव सत् और असत् तत्त्व को नही जानता वह सत्य को प्राप्त नही कर सकता।

लप्स्ये चित्तस्य सुस्थैर्यमध्येतव्यमतो मया।
अस्थिरात्मा पदार्थेषु, जानन्नपि विमुह्यति ॥१६॥

१६ मै एकाग्र-चित्त बनूंगा—इस उद्देश्य से मुझे अध्ययन करना चाहिए। अस्थिर-आत्मा वाला व्यक्ति पदार्थों को जानता हुआ भी उनमें मूढ बन जाता है।

आत्मानं स्थापयिष्यामि, धर्मेऽध्येयमतो मया।
धर्महीनो जनो लोके, तनुते दुःखसन्ततिम् ॥१७॥

१७. अपनी आत्मा को धर्म में स्थापित करूँगा—इस उद्देश्य से मुझे अध्ययन करना चाहिए। जो व्यक्ति धर्महीन है वह संसार में दुःख की परम्परा को बढाता है।

स्थितः परान् स्थापयिष्ये, धर्मेऽध्येयमतोमया।
आचार्येव सदाचारं, प्रस्थापयितुमर्हसि ॥१८॥

१८. मैं स्वय स्थित होकर दूसरो को धर्म मे स्थापित करूँगा—इस उद्देश्य से मुझे अध्ययन करना चाहिए। आचारवान् व्यक्ति ही सदाचार की स्थापना कर सकता है।

प्राणिनामुह्यमानानां, जरामरणवेगतः।
धर्मोद्वीपं प्रतिष्ठा च, गतिः शरणमुत्तमम् ॥१९॥

१९ जरा और मरण के प्रवाह मे बहने वाले जीवो के लिए धर्म द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है और उत्तम शरण है।

दुर्गतौ प्रपतज्जन्तोर्धारणाद् धर्म उच्यते।
धर्मेणासौ धृतोह्यात्मा, स्वरूपमधिगच्छति ॥२०॥

२० जो दुर्गति मे पडते हुए जीव को धारण करता है वह धर्म कहलाता है। अपने स्वरूप को वही प्राप्त होता है जिसकी आत्मा धर्म के द्वारा धारण की हुई हो।

आत्मनश्च प्रकाशाय, बन्धनस्य विमुक्तये।
आनन्दाय भगवता, धर्मप्रवचनं कृतम् ॥२१॥

२१ आत्मा के प्रकाश के लिए, बन्धन की मुक्ति के लिए और आनन्द के लिए भगवान् ने धर्म का प्रवचन किया।

शुभाशुभफलैरेभिः, कर्मणां बन्धनैर्ध्रुवम्।
प्रमाद - बहुलो जीवः, संसारमनुवर्तते ॥२२॥

२२. प्रमादी जीव शुभ-अशुभ फल वाले कर्मो के इन बन्धनो से संसार में पर्यटन करता है।

शुभाशुभफलान्यत्र, कर्मणां बन्धनानि च ।
छित्त्वा मोक्षमवाप्नोति, अप्रमत्तो हि संयतिः ।।२३।।

२३. अप्रमत्त मुनि कर्मों के बन्धनो और उनके शुभ-अशुभ फलों का छेदन कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

एकमासिकपर्यायो, मुनिरात्मगुणे रतः ।
व्यन्तराणां च देवानां, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत् ।।२४।।

२४ आत्मिक सुख की तुलना में पौद्गलिक सुख निकृष्ट होता है। पौद्गलिक सुख भी सब मे समान नही होता। मनुष्यों की अपेक्षा देवताओ का पौद्गलिक सुख विशिष्ट होता है। देवताओ की चार श्रेणियाँ है —(१) व्यन्तर, (२) भवनपति, (३) ज्योतिषी और (४) वैमानिक । भगवान् ने बताया कि आत्मा मे लीन रहने वाला मुनि एक मास का दीक्षित होने पर भी व्यन्तर देवो के सुखो को लाघ जाता है—उनसे अधिक सुखी बन जाता है।

द्विमासमुनिपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः ।
भवनवासि देवानां, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत् ।।२५।।

२५ दो मास का दीक्षित मुनि भवनवासी देवो के सुखो को लाघ जाता है।

त्रिमासमुनिपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः ।
देवासुरकुमाराणां, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत् ।।२६।।

२६ तीन मास का दीक्षित मुनि असुरकुमार देवों के सुखो को लाघ जाता है।

चतुर्मासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः ।
ज्योतिष्कानां ग्रहादीनां, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत् ।।२७।।

२७ चार मास का दीक्षित मुनि ग्रह आदि ज्योतिष्क देवो के सुखो को लाघ जाता है।

पञ्चमासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः ।
सूर्याचन्द्रमसोरेव, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत् ।।२८।।

२८ पॉच मास का दीक्षित मुनि चॉद और सूरज के सुखो को लाघ जाता है।

षाण्मासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः ।
सौधर्मेशानदेवानां, तेजोलेश्या व्यतिव्रजेत् ।।२९।।

२९ छह मास का दीक्षित मुनि सौधर्म और ईशान देवो के सुखो को लाघ जाता है।

सप्तमासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः ।
सनत्कुमारमाहेन्द्र-तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत् ।।३०।।

३० सात मास का दीक्षित मुनि सनत्कुमार और माहेन्द्र देवो के सुखो को लाघ जाता है।

अष्टमासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः ।
ब्रह्मलान्तकदेवानां, तेजोलेश्या व्यतिव्रजेत् ।।३१।।

३१ आठ मास का दीक्षित मुनि ब्रह्म और लान्तक देवो के सुखों को लाघ जाता है।

नवमासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः ।
महाशुक्रसहस्रार-तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत् ।।३२।।

३२. नौ मास का दीक्षित मुनि महाशुक्र और सहस्रार देवों के सुखो को लाघ जाता है।

दशमासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः।
आनतादच्युतं यावत्, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत् ॥३३॥

३३. दस मास का दीक्षित मुनि आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवो के सुखो को लाघ जाता है।

एकादशमासगत, आत्मध्यानरतो यतिः।
ग्रैवेयकाणां देवानां, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत् ॥३४॥

३४ ग्यारह मास का दीक्षित मुनि नव ग्रैवेयक देवो के सुखो को लाघ जाता है।

द्वादशमासपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः।
अनुत्तरोपपातिक-तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत् ॥३५॥

३५ बारह मास का दीक्षित मुनि पाँच अनुत्तर विमान के देवों के सुखो को लाघ जाता है।

ततः शुक्लः शुक्लजातिः, शुक्ललेश्यामधिष्ठितः।
केवली परमानन्दः, सिद्धो बुद्धो विमुच्यते ॥३६॥

३६ उसके बाद वह शुक्ल और शुक्ल जाति वाला मुनि, शुक्ल लेश्या को प्राप्त होकर केवली होता है, परम आनन्द मे मग्न, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

अभूवंश्च भविष्यन्ति, सुव्रता धर्मचारिणः ।
एतान् गुणानुदाहुस्ते, साधकाय शिवङ्करान् ॥३७॥

३७. अच्छे व्रत वाले जो धार्मिक हुए है और होगे, उन्होने साधकों के लिए कल्याण करने वाले इन्ही गुणो का निरूपण किया है या करेगे ।

दशम अध्याय

मेघः प्राह—

कथं चरेत् कथं तिष्ठेच्छयीतासीत वा कथम् ।
कथं भुञ्जीत भाषेत, साधको ब्रूहि मे प्रभो ! ॥१॥

१ मेघ बोला—हे प्रभो ! मुझे बताइये, साधक कैसे चले?, कैसे ठहरे ?, कैसे बैठे ?, कैसे खाये ?, और कैसे बोले ?

भगवान् प्राह—

यतं चरेद् यतं तिष्ठेच्छयीतासीत वा यतम् ।
यतं भुञ्जीत भाषेत, साधकः प्रयतो भवेत् ॥२॥

२. भगवान् ने कहा— साधक यतनापूर्वक चले, यतनापूर्वक ठहरे, यतनापूर्वक बैठे, यतनापूर्वक सोये, यतनापूर्वक खाये और यतनापूर्वक बोले। उसे प्रत्येक कार्य में सयत होना चाहिए।

जलमध्ये गता नौका, सर्वतो निष्परिस्रवा ।
गच्छन्ती वाऽपि तिष्ठन्ती, परिगृह्णाति नो जलम् ॥३॥

३. जल के मध्य में रही हुई नौका जो सर्वथा छिद्ररहित हो, चाहे चले या खडी रहे, जल को ग्रहण नहीं करती—उसमें जल नहीं भरता।

एवं जीवाकुले लोके, साधुः सुसंवृतास्रवः ।
गच्छन् वा नाम तिष्ठन्, वा नादत्ते पापकं मलम् ॥४॥

४. इसी प्रकार जिस साधु ने आस्रव का निरोध कर लिया वह इस जीवाकुल लोक मे रहता हुआ चाहे चले या खडे रहे, पाप-मल को ग्रहण नही करता।

मेघः प्राह—

त्यक्तव्यो नाम देहोऽयं, पुरापश्चाद् यदाकदा ।
तत् किमर्थं हि भुञ्जीत, साधको ब्रूहि मे प्रभो ! ॥५॥

५ मेघ बोला—प्रभो ! पहले या पीछे जब कभी एक दिन इस शरीर को छोडना है तो फिर साधक किस लिए खाये ? मुझे बताइये।

बाह्याद्दूर्ध्वं समादाय, नावकाङ्क्षेत् कदाचन ।
पूर्वकर्मविनाशार्थमिम, देहं समुद्धरेत् ॥६॥

६ ससार से बहिर्भूत मोक्ष का लक्ष्य बनाकर मुनि कभी भी विषयो की अभिलाषा न करे। केवल पूर्व कर्मों का क्षय करने के लिए इस देह को धारण करे।

विनाहारं न देहोऽसौ, न धर्मो देहमन्तरा ।
निर्वाहं तेन देहस्य, कर्त्तुमाहार इष्यते ॥७॥

७ भोजन के बिना शरीर नही टिकता और शरीर के बिना धर्म नही होता। इसलिए शरीर का निर्वाह करने के लिए साधक भोजन करे—यह इष्ट है।

क्षुधः शान्त्यै च सेवायां, प्राणसन्धारणाय च।
संयमाय तथा धर्मचिन्तायै मुनिराहरेत् ॥८॥

८. मुनि भूख को शान्त करने के लिए, दूसरे साधुओं की सेवा करने के लिए, प्राणो को धारण करने के लिए, संयम की सुरक्षा के लिए तथा धर्म-चिन्तन कर सके वैसी शक्ति को बनाये रखने के लिए, भोजन करे।

आतङ्के निष्प्रतीकारे, जातायां विरतौ तनौ।
ब्रह्मचर्यस्य रक्षायै, दयायै प्राणिनांतथा ॥९॥
संकल्पान् सुदृढीकर्त्तुं, कर्मणां शोधनाय च।
आहारस्य परित्यागः, कर्त्तुमर्होऽस्ति संयतेः ॥१०॥

९-१० असाध्य रोग उत्पन्न हो जाये, शरीर से विरक्ति हो जाये—वैसी स्थिति मे ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, जीव-हिंसा से बचने के लिए, सकल्पो को सुदृढ करने के लिए और कृत-कर्म की शुद्धि—प्रायश्चित्त के लिए मुनि को भोजन का परित्याग करना उचित है।

अल्पवारञ्च भुञ्जानो, वस्तून्यल्पानि संख्यया।
मात्रामल्पाञ्च भुञ्जानो, मिताहारो भवेद् यतिः ॥११॥

११ जो मुनि एक या दो बार खाता है, संख्या मे अल्प वस्तुएँ और मात्रा मे अल्प खाता है, वह मितभोजी है।

जितः स्वादो ।जतास्तेन, विषयाः सकलाः परे।
रसो यस्यात्मनि प्राप्तः, स रसं जेतुमर्हति ॥१२॥

१२. जिसने स्वाद को जीत लिया उसने सब विषयो को जीत लिया। जिसे आत्मा मे रस की अनुभूति हो गयी वही पुरुष रस (स्वाद) को जीत सकता है।

न वामाद् हनुतस्तावत्संचारयेच्च दक्षिणम् ।
दक्षिणाच्च तथा वाममाहरन्मुनिरात्मवित् ॥१३॥

१३ आत्मविद् मुनि भोजन करते समय स्वाद लेने के लिए दायें जबड़े से बायी ओर तथा बाये जबडे से दायी ओर भोजन का संचार न करे।

स्वादाय विविधान् योगान्, न कुर्यात् खाद्यवस्तुषु ।
संयोजना परित्यज्य, मुनिराहारमाचरेत् ॥१४॥

१४ मुनि स्वाद के लिए खाद्य पदार्थो मे विविध प्रकार के संयोग न मिलाए। इस सयोजना-दोष का वर्जन कर भोजन करे।

अप्रमाणं न भुञ्जीत, न भुञ्जीताप्यकारणम् ।
श्लाघां कुर्वन्न भुञ्जीत, निन्दन्नपि न चाहरेत् ॥१५॥

१५ मात्रा से अधिक न खाये, निष्कारण न खाये, सरस भोजन की सराहना और नीरस भोजन की निन्दा करता हुआ न खाये।

मेघः प्राह—

जायन्ते ये म्रियन्ते ते, मृताः पुनर्भवन्ति च ।
तत्र किं जीवनं श्रेयः, श्रेयो वा मरणं भवेत् ॥१६॥

१६ मेघ बोला—जिनका जन्म होता है उनकी मृत्यु होती है, जिनकी मृत्यु होती है उनका वापस जन्म होता है। ऐसी स्थिति मे जीना श्रेय है या मरना ?

भगवान् प्राह—

संयमासंयमाभ्यांतु, जीवनं द्विविधं भवेत् ।
संयतं जीवनं श्रेयः, न श्रेयोऽसंयतं पुनः ॥१७॥

१७ भगवान् ने कहा—जीवन दो प्रकार का होता है—सयत-जीवन और असयत-जीवन। सयत जीवन श्रेय है, असयत-जीवन श्रेय नही है।

सकामाकामभेदेन, मरण द्विविध स्मृतम्।
सकाममरण श्रेय, नाकाममरण भवेत् ॥१८॥

१८ मृत्यु के दो प्रकार हैं—सकाम मृत्यु–सयममय मृत्यु अकाम मृत्यु–असयममय मृत्यु। सकाम मृत्यु श्रेय है अकाम मृत्यु श्रेय नही है।

अकाम नाम बालाना, मरणञ्जायते मुहु।
पण्डितानां सकाम तु, जघन्यत सकृद् भवेत ॥१९॥

१९ बाल—असयमी जीवो का बार-बार अकाम मरण होता है। पण्डित—सयमी जीवो का सकाम मरण होता है। वह अधिक बार नही होता—जघन्यत एक बार और उत्कृष्टत पन्द्रह बार होता है फिर वह मुक्त हो जाता है।

पतित्वा पर्वताद् वृक्षात्, प्रविश्य ज्वलने जले।
म्रियते मूढचेतोभिरप्रशस्तमिद भवेत् ॥२०॥

२० मूढ मन वाले लोग पर्वत या वृक्ष के नीचे गिरकर अग्नि या जल में प्रवेश कर जो मरते हैं वह अप्रशस्त मरण कहलाता है।

ब्रह्मचर्यस्यरक्षार्थं, प्राणानामतिपातनम्।
प्रशस्त मरण प्राहू, रागद्वेषाप्रवर्तनात् ॥२१॥

२१. ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए प्राणो का नाश करना प्रशस्त मरण कहलाता है क्योकि वहाँ राग-द्वेष की प्रवृत्ति नही होती।

यस्य किञ्चिद् व्रतं नास्ति, स जनो बाल उच्यते।
व्रताव्रतं भवेद् यस्य, स प्रोक्तो बालपण्डितः ॥२२॥

२२ जिसके कुछ भी व्रत नही होता वह जीव 'बाल' कहलाता है। जिसके व्रताव्रत दोनो होते है (पूर्ण व्रत भी नही होता और पूर्ण अव्रत भी नही होता) वह 'बाल-पण्डित' कहलाता है।

पण्डितः स भवेत् प्राज्ञो, यस्य सर्वव्रत भवेत्।
सुप्तः सुप्तश्च जाग्रच्च, जाग्रदुक्तविधानतः ॥२३॥

२३ जिसके पूर्ण व्रत होता है वह प्राज्ञ पुरुष 'पण्डित' कहलाता है। पूर्वोक्त रीति के अनुसार पुरुषो के तीन प्रकार होते हैं — (१) सुप्त, (२) सुप्त-जागृत और (३) जागृत। अव्रती को सुप्त, व्रताव्रती को सुप्त-जागृत और सर्वव्रती को जागृत कहा जाता है।

एवमधर्मपक्षेऽपि, धर्माधर्मेऽपि कश्चन।
धर्मपक्षे स्थितः कश्चित्, त्रिविधो विद्यते जनः ॥२४॥

२४ पक्ष तीन होते हैं —(१) अधर्म-पक्ष, (२) धर्माधर्म-पक्ष, (३) धर्म-पक्ष। इन तीनो पक्षो मे अवस्थित होने के कारण पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं —(१) अधर्मी, (२) धर्माधर्मी और (३) धर्मी।

हव्यवाहः प्रमथ्नाति, जीर्णं काष्ठं यथा ध्रुवम्।
तथा कर्म प्रमथ्नाति, मुनिरात्मसमाहितः ॥२५॥

२५ जिस प्रकार अग्नि जीर्ण काठ को भस्म कर डालती है उसी प्रकार समाधियुक्त आत्मा वाला मुनि कर्मों को भस्म कर डालता है।

नरको नाम नास्तीति, नैव सज्ञां निवेशयेत्।
स्वर्गोऽपि नाम नास्तीति, नैव सज्ञा निवेशयेत् ॥२६॥

२६ नरक नही है—इस प्रकार की सज्ञा धारण न करे। स्वर्ग नही है—इस प्रकार की सज्ञा धारण न करे।

पञ्चेन्द्रियवध कृत्वा महारम्भपरिग्रहौ।
मांसस्य भोजनाच्चापि, नरक याति मानव ॥२७॥

२७ जो पुरुष पचेन्द्रिय का बध करता है महा आरम्भ (हिंसा) करता है महा-परिग्रही होता है और जो मास भोजन करता है वह नरक मे जाता है। पचेन्द्रिय वध आदि चार कारण नरक में जाने के हेतु बनते है।

सरागसयमो नन, सयमासयमस्तथा।
अकामनिर्जरा बाल-तप स्वगस्य हेतव ॥२८॥

२८ स्वग मे जाने के चार कारण है—(१) सराग सयम—अवीतराग का सयम, (२) सयमासयम—अपूर्ण सयम, (३) अकाम निजरा—जिसमे मोक्ष का उद्देश्य न हो वैसे तप से होने वाली आत्म-शुद्धि और (४) बाल-तप—अज्ञानी का तप।

विनीत सरलात्मा च, अल्पारम्भपरिग्रह।
सानुक्रोशोऽमत्सरी च, जनो याति मनष्यताम् ॥२९॥

२९ जो विनीत व सरल होता है अल्प आरम्भ व अल्प-परिग्रह

वाला होता है, दयालु और मात्सर्य-रहित होता है, वह मृत्यु के बाद मनुष्य जन्म को प्राप्त होता है।

मायाञ्च निकृतिं कृत्वा, कृत्वा चासत्यभाषणम्।
कूटं तोलं च मानञ्च, जीवस्तिर्यग् गतिं व्रजेत् ॥३०॥

३०. तिर्यञ्च (पशु-पक्षी) की गति में उत्पन्न होने के चार कारण हैं —(१) कपट, (२) प्रवञ्चना, (३) असत्य भाषण, और (४) कूट तोल-माप।

शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां, संसारमनुवर्तते।
प्रमादबहुलोजीवोऽप्रमादेनान्तमृच्छति ॥३१॥

३१. प्रमादी जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में अनुवर्तन करता है और अप्रमादी जीव संसार का अन्त कर देता है।

स्वयं बुद्धा भवन्त्येके, केचित् स्युर्बुद्धबोधिताः।
प्रत्येकं बुद्धाः केचित् स्युर्बोधिर्नानायनाभवेत् ॥३२॥

३२ संसार का अन्त करने वालों में कई जीव स्वयं बुद्ध (उपदेश आदि के बिना स्वतः बोध पाने वाला) होते हैं, कई बुद्ध-बोधित (दूसरों के द्वारा प्रतिबुद्ध) होते हैं और कई प्रत्येक-बुद्ध (किसी एक घटना विशेष से बोध पाने वाला) होते हैं। इस प्रकार बोधि की प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं।

योग्यताभेदतः पुंसां, रुचिभेदो हि जायते।
रुचिभेदाद् भवेद् भेदः, साधनाध्वावलम्बने ॥३३॥

३३. सब मनुष्यों की योग्यता समान नहीं होती। इसलिए

उनकी रुचि भी समान नही होती। रुचि-भेद के कारण साधना के विभिन्न मार्गों का अवलम्बन लिया जाता है।

बुद्धाः केचिद् बोधकाः स्युः, केचिद् बुद्धा न बोधकाः।
आत्मानुकम्पिनः केचित्, केचिद् द्वयानुकम्पकाः ॥३४॥

३४ कई स्वय-बुद्ध भी होते हैं और दूसरो को बोध (उपदेश) भी देते है। कई स्वय-बुद्ध होते है पर दूसरो को बोध नही देते। कई केवल आत्मानुकम्पी होते है और कई उभयानुकम्पी (अपनी व दूसरो की दोनो की अनुकम्पा करने वाला) होते हैं।

क्षपिताशेषकर्मा हि, मुनिर्भवाद् विमुच्यते।
मुच्यते चान्यलिङ्गोऽपि, गृहिलिङ्गोऽपि मुच्यते ॥३५॥

३५ अशेष कर्मों का क्षय करने वाला मुनि भव-मुक्त होता है। मुक्त होने में आत्म-शुद्धि की प्रधानता है, लिग (वेष) की नही। जो वीतराग बनता है वह मुक्त हो जाता है, भले फिर वह अन्यलिंगी (जैनेतर साधु के वेष में) हो या गृहिलिगी (गृहस्थ के वेष मे) हो।

प्रत्ययार्थञ्च लोकस्य, नानाविधविकल्पनम्।
यात्रार्थं ग्रहणार्थञ्च, लोकलिङ्गप्रयोजनम् ॥३६॥

३६ लोगो को यह प्रतीति हो कि ये साधु है, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणो की परिकल्पना की गयी है। जीवन-यात्रा को निभाना और मे साधु हूँ, ऐसा ध्यान आते रहना, इस लोक में वेष-धारण के प्रयोजन है।

अथ भवेत् प्रतिज्ञा तु, मोक्षसद्भावसाधिका।
ज्ञानञ्च दर्शन चैव, चारित्र चैव निश्चये ॥३७॥

३७. यदि मोक्ष की वास्तविक साधना की प्रतिज्ञा हो तो निश्चय दृष्टि से उसके साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही हैं।

संशयं न परिजानाति, संशयं परिवेत्ति सः।
सशयं न विजानाति, संसारं परिवेत्ति सः ॥३८॥

३८ जिसमें जिज्ञासा है वह ससार को जानता है। जिसमे जिज्ञासा का अभाव है वह ससार को नही जानता।

पूर्वोत्थिताः स्थिरा एके पूर्वोत्थिताः पतन्त्यपि।
नोत्थिता न पतन्त्येव, भङ्गः शून्यश्चतुर्थक ॥३९॥

३९ कई पहले साधना के लिए उद्यत होते है और अन्त तक उसमे स्थिर रहते है। कई पहले साधना के लिए उद्यत होते है और बाद मे गिर जाते है। कई साधना के लिए न उद्यत होते है और न गिरते हैं। इसका चतुर्थ भग शून्य होता है—बनता ही नही।

(१) पूर्वोत्थित और पश्चाद् स्थित
(२) पूर्वोत्थित और पश्चाद् निपाती
(३) नपूर्वोत्थित और न पश्चाद् निपाती

यत् सम्यक् तद् भवेन्मौन, यन्मौनं सम्यगस्ति तत्।
मुनिर्मौनं समादाय, धुनीयाच्च शरीरकम् ॥४०॥

४० जो सम्यक् है वह मौन (श्रामण्य) है और जो मौन है वह सम्यक् है। मुनि मौन को स्वीकार कर शरीर-मुक्त बने।

एकादश अध्याय

अस्त्यात्मा चेतनारूपो, भिन्नः पौद्गलिकैर्गुणैः।
स्वतन्त्रः करणे भोगे, परतन्त्रश्च कर्मणाम् ॥१॥

१ आत्मा का स्वरूप चेतना है। वह पौद्गलिक गुणो से भिन्न है। वह कर्म करने में स्वतन्त्र और उनका फल भोगने में परतन्त्र है।

अध्रुवे नाम ससारे, दुःखानां काममालये।
परिभ्राम्यन्नयं प्राणी, क्लेशान् व्रजत्यतर्कितान् ॥२॥

२ यह ससार क्षणिक दु.खो का आलय (घर) है। इसमें परिभ्रमण करता हुआ प्राणी अतर्कित क्लेशो को प्राप्त होता है।

पुनर्भवी स्ववृत्तेन, विचित्रं धरते वपुः।
कृत्वा नानाविधं कर्म, नानागोत्रासु जातिषु ॥३॥

३ जीव अपने आचरण से बार-बार जन्म लेता है और विचित्र प्रकार के शरीरो को धारण करता है तथा विभिन्न प्रकार के कर्मों का उपार्जन कर विभिन्न गोत्र और जातियो में उत्पन्न होता है।

प्रहाण्याकर्मणां किञ्चिदानुपूर्व्या कदाचन।
जीवाः शोधिमनुप्राप्ता, आव्रजन्ति मनुष्यताम् ॥४॥

४. कर्मों की हानि होते-होते जीव क्रमश विशुद्धि को प्राप्त होते हैं और विशुद्ध जीव मनुष्यगति में जन्म लेते हैं।

लब्ध्वाऽपि मानुषं जन्म, श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा।
यच्छ्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तपः क्षान्तिमहिंसताम् ॥५॥

५. मनुष्य का जन्म मिलने पर भी उस धर्म की श्रुति (सुनना) दुर्लभ है जिसे सुनकर लोग तप, क्षमा और अहिंसक वृत्ति को स्वीकार करते हैं।

कदाचिच्छ्रवणे लब्धे, श्रद्धा परमदुर्लभा।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं, भ्रश्यन्ति बहवो जनाः ॥६॥

६ कदाचित् धर्म को सुनने का अवसर मिलने पर भी उस पर श्रद्धा होना अत्यन्त कठिन है। न्याय-सगत मार्ग को सुनकर भी बहुत से लोग भ्रष्ट हो जाते हैं।

श्रुतिञ्च लब्ध्वा श्रद्धाञ्च, वीर्यपुनः सुदुर्लभम्।
रोचमाना अप्यनेके, नाचरन्ति कदाचन ॥७॥

७ धर्म-श्रवण और श्रद्धा प्राप्त होने पर भी वीर्य (सयम मे शक्ति का प्रयोग करना) दुर्लभ है। कई लोग श्रद्धा रखते हुए भी धर्म का आचरण नही करते।

लब्ध्वा मनुष्यतां धर्मं, शृणुयाच्छ्रद्दधीत यः।
वीर्यं सच समासाद्य, धुनीयाद् दुःखमर्जितम् ॥८॥

८ मनुष्य जन्म को प्राप्त होकर जो धर्म को सुनता है, श्रद्धा रखता है और सयम मे शक्ति का प्रयोग करता है वह व्यक्ति अर्जित दु:खो को प्रकम्पित कर डालता है।

शोधिः ऋजुकभूतस्य, धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति।
निर्वाणं परमं याति, घृतसिक्त इवानलः ॥६॥

६. शुद्धि उसे प्राप्त होती है जो सरल होता है। धर्म उसी आत्मा में ठहरता है जो शुद्ध होती है। जिस आत्मा में धर्म होता है वह घी से सींची हुई अग्नि की भाति परम दीप्ति को प्राप्त होता है।

नियत्या नाम सञ्जाते, परिपाके भवस्थितेः।
मोहकं क्षपयन् कर्म, विमर्शं लभतेऽमलम् ॥१०॥

१० नियति के द्वारा भवस्थिति के पकने पर जीव मोह कर्म का नाश करता हुआ विशद विचारणा को प्राप्त होता है।

तत्किं नाम भवेत्कर्म, येनाऽहं स्याम दुःखभाक्।
जिज्ञासा जायते तीव्रा, ततो मार्गो विमृश्यते ॥११॥

११ "ऐसा वह कौन-सा कर्म है जिसका आचरण कर मैं दु खी न बनू ?" मनुष्य मे ऐसी तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् वह मार्ग की खोज करता है।

सत्यधीरात्मलीनोऽसौ, सत्यान्वेषणतत्परः।
स्थूलसत्यं समुत्सार्य, सूक्ष्मं तदवगाहते ॥१२॥

१२ जो व्यक्ति सत्यधी (सत्य बुद्धिवाला) होता है, जो आत्म-लीन होता है और जो सत्य के अन्वेषण में तत्पर होता है वह स्थूल सत्य को छोडकर सूक्ष्म सत्य का अवगाहन करता है।

माता पिता स्नुषा भ्राता, भार्या पुत्रास्तथौरसाः।
त्राणाय मम नालंते, लुप्यमानस्य कर्मणा ॥१३॥

१३. वह यह चिन्तन करता है कि अपने कर्मों से पीड़ित होने पर

मेरी सुरक्षा के लिए माता-पिता, पतोहू, भाई, पत्नी और औरस (सगे) पुत्र कोई भी समर्थ नही है।

अध्यात्मं सर्वतः सर्वं, दृष्ट्वा जीवान् प्रियायुषः ।
न हन्ति प्राणिनः प्राणान्, भयादुपरतः क्वचित् ।।१४।।

१४ सभी जीव सब ओर से सुख चाहते हे और उन्हे जीवन प्रिय है, यह देखकर प्राणियो के प्राणों का वध न करे तथा भय और वैर से निवृत्त बने—अभय बने।

आदानं नरकं दृष्ट्वा, मोहं तत्र न गच्छति ।
आत्मारामः स्वयं स्वस्मिंल्लीनः शान्ति समश्नुते ।।१५।।

१५ परिग्रह को नरक मानकर जो उससे मोह नही करता और स्वय अपने मे लीन रहता है वह आत्मा मे रमण करने वाला व्यक्ति शान्ति को प्राप्त होता है।

इहैके नाम मन्यन्ते, अप्रत्याख्याय पापकम् ।
विदित्वा तत्त्वमात्मासौ, सर्वदुःखाद्विमुच्यते ।।१६।।

१६ कई लोग यह मानते हे कि पापो का परित्याग करना आवश्यक नही होना। जो आत्मा तत्त्व को जान लेता है वह सब दु खो से विमुक्त हो जाता है।

वदन्तश्चाप्यकुर्वन्तो, बन्धमोक्षप्रवेदिनः ।
आश्वासयन्ति चात्मानं, वाचा वीर्येण केवलम् ।।१७।।

१७ जो केवल कहते हे किन्तु करते नही, बन्धन और मुक्ति का निरूपण करते हे किन्तु बन्धन से मुक्ति मिले वैसा उपाय नही करते, वे केवल वचन के वीर्य से अपने आपको आश्वासन दे रहे हैं।

न चित्रा त्रायते भाषा, कुतो विद्यानुशासनम् ।
विषण्णाः पापकर्मभ्यो, बालाः पण्डितमानिनः ॥१८॥

१८. जो अज्ञानी है, जो अपने आपको पण्डित मानते हैं और जो पाप-कर्म से खिन्न बने हुए हैं, जिनका आचरण में विश्वास नहीं है, जो कोरे ज्ञानवादी हैं, उन्हें विचित्र प्रकार की भाषाएँ पाप से नही बचा सकती और विद्या का अनुशासन भी नही बचा सकता ।

ज्ञानञ्च दर्शनञ्चैव, चरित्रं च तपस्तथा ।
एष मार्ग इति प्रोक्तं, जिनैः प्रवरदर्शिभिः ॥१९॥

१९ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इनका समुदय मोक्ष का मार्ग है । श्रेष्ठ दर्शन वाले वीतराग ने ऐसा कहा है ।

ज्ञानेन ज्ञायते सर्वं, विश्वमेतच्चराचरम् ।
श्रद्धीयते दर्शनेन, दृष्टिमोहविशोधिना ॥२०॥

२० ज्ञान से यह समस्त चराचर विश्व जाना जाता है । दर्शन-मोह की विशुद्धि से उत्पन्न होने वाले दर्शन से उसके प्रति यथार्थ विश्वास होता है ।

भावि-दुःखनिरोधाय, धर्मो भवति संवरः ।
कृतदुःखविनाशाय, धर्मो भवति सत्तपः ॥२१॥

२१ सवर (चारित्र) धर्म के द्वारा भावी दुःख का निरोध होता है और तप के द्वारा किये हुए दुःखो का नाश होता है ।

संवृत्य दृष्टिमोहं च, व्रती भवति मानवः ।
अप्रमत्तोऽकषायी च, ततो योगी विमुच्यते ॥२२॥

२२ पहले दृष्टि (दर्शन) मोह का सवरण होता है फिर मनुष्य क्रमश व्रती, अप्रमत्त, अकषायी (क्रोधादि रहित) और अयोगी (मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोध करने वाला) होकर मुक्त होता है।

संवृतात्मा नवं कर्म, नादत्तेऽनास्रवो यतिः।
अकर्मा जायते कर्म, क्षपयित्वा पुराजितम् ॥२३॥

२३ सवृत (सवर युक्त) आत्मा वाला यति नये कर्मों को ग्रहण नही करता। उसके आस्रव (कर्म बन्धने की वृत्ति) रुक जाते हैं और वह पूर्व अर्जित कर्मो का नाश कर, अकर्मा—कर्म-रहित हो जाता है।

अतीतं वर्तमानं च, भविष्यच्चिरकालिकम्।
सर्वथा मन्यते भावी दर्शनावरणान्तकः ॥२४॥

२४ वह दर्शनावरणीय कर्म का अन्त करने वाला यति चिरकालीन, अतीत, वर्तमान और भविष्य को सर्वथा जान लेता है और वह सभी जीवो का रक्षक होता है।

अन्तको विचिकित्सायाः, सर्वं जानात्यनीदृशम्।
अनीदृशस्य शास्ता हि, यत्र तत्र न विद्यते ॥२५॥

२५ जो सन्देहो का अन्त करने वाला है वह तत्त्वो को वैसे जानता है जैसे दूसरा नही जान पाता। असाधारण तत्त्व का शास्ता जहाँ-तहाँ नही मिलता।

स्वाख्यातमेतदेवास्ति, सत्यमेतत् सनातनम्।
सदा सत्येन सम्पन्नो, मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत् ॥२६॥

२६ यही सुभाषित है, यही सनातन सत्य है कि व्यक्ति सदा सत्य से सम्पन्न बने और सब जीवो के प्रति मैत्री का व्यवहार करे।

वैरी करोति वैराणि, ततो वैरेण रज्यति।
पापोपगानि तानीह, दुःखस्पर्शानि चान्तशः ॥२७॥

२७ जो व्यक्ति वैरी है वह वैर करता है और वैर करते-करते उसमे रक्त हो जाता है। वैर पापार्जन का हेतु है और अन्तत उसका परिणाम दु ख-प्राप्ति होता है।

सहि चक्षुर्मनुष्याणां, काङ्क्षामन्तं नयेत यः।
लुठति चक्रमन्तेन, वहत्यन्तेन च क्षुरः ॥२८॥

२८ जो कॉक्षा (सन्देह) का अन्त करता है वह मनुष्यो का नेत्र है। रथ का पहिया अन्त (धुरी के किनारे) से चलता है और उस्तरा भी अन्त से चलता है।

धीरा अन्तेन गच्छन्ति, नयन्त्यन्तं ततो भवम।
अन्तं कुर्वन्ति दुःखानां, सम्बोधिरति दुर्लभा ॥२९॥

२९ धीर पुरुष अन्त से चलते है—हर वस्तु की गहराई मे पहुँचते है, इसलिए वे भव का अन्त पा लेते है और दुःखो का अन्त करते है। इस प्रकार की सबोधि प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

यो धर्मं शुद्धमाख्याति, प्रतिपूर्णमनीदृशम्।
अनीदृशस्य यत्स्थान, तस्य जन्मकथा कुतः ॥३०॥

३०. जो परिपूर्ण, अनुपम और शुद्ध धर्म का निरूपण करता है वह असाधारण पुरुष है। उसे ऐसा विशिष्ट स्थान मिलता है कि फिर उसके लिए जन्म-मरण का प्रश्न ही नही उठता।

आत्मगुप्तः सदादान्तः, छिन्नस्रोता अनास्रवः ।
स धर्मं शुद्धमारव्याति, प्रतिपूर्णमनीदृशम् ।।३१।।

३१ जो आत्म-गुप्त है, सदादान्त है, जिसने कर्म आने के स्रोतो का निरोध किया है और जो अनास्रव (आस्रव रहित) हो गया है वह परिपूर्ण, अनुपम और शुद्ध धर्म का निरूपण करता है।

यन्मतं सर्वसाधूनां, तन्मत शल्यकर्तनम् ।
साधयित्वा च तत्तीर्णा, निःशल्या व्रतिनां वराः ।।३२।।

३२ जो मार्ग सब साधुओ द्वारा अभिमत है वही मार्ग शल्य का उच्छेद करनेवाला है, उसकी साधना से बहुत से उत्तमव्रती नि शल्य वनकर भव-समुद्र को तर गये।

पण्डितो वीर्यमासाद्य, निर्घाताय प्रवर्तकम् ।
धुनीयात् सञ्चित कर्म, नवं कर्म न वा सृजेत् ।।३३।।

३३ पण्डित व्यक्ति कर्म-क्षय के लिए सत्प्रवृत्तिरूप शक्ति को प्राप्त कर पूर्व कृत कर्म का नाश करे और नये कर्म का अर्जन न करे।

एकत्वभावनादेव, निःसङ्गत्वं प्रजायते ।
निःसङ्गो जनमध्येऽपि, स्थितो लेपं न गच्छति ।।३४।।

३४ एकत्वभावना से नि सगता—निर्लिप्तता उत्पन्न होती है। नि सग मनुष्य जनता के बीच रहता हुआ भी कर्म से लिप्त नही होता।

न प्रियं कुरुते कस्याप्यप्रियं कुरुते न यः ।
सर्वत्र समतामेति, समाधिस्तस्य जायते ।।३५।।

३५. जो किसी का प्रिय भी नही करता और अप्रिय भी नहीं करता, सब जगह समता का सेवन करता है, वह समाधि को प्राप्त होता है।

*अशंकितानि शङ्कन्ते, शङ्कितेषु ह्यशङ्किनः।
असंवृता विमुह्यन्ति, मूढा यान्ति चलं मनः ॥३६॥

३६ असवृत (नियमनरहित) व्यक्ति मुग्ध होते हैं। जो मूढ हे उनका मन चचल होता है। वे उन विषयों मे सन्देह करते हैं जो सन्देह के स्थान नही हे और उन विषयो मे सन्देह नही करते जो सन्देह के स्थान हे।

स्वकृतं विद्यते दुःखं, स्वकृतं विद्यते सुखम्।
अबोधिनार्जितं दुःख, बोधिना हि प्रलीयते ॥३७॥

३७ दु ख अपना किया हुआ होता है और सुख भी अपना किया हुआ होता है। अबोधि से दु ख अर्जित होता है और बोधि से उसका नाश होता है।

हिंसासूतानि दुःखानि, भयवैरकराणि च।
पश्य व्याहृतमीक्षस्व, मोहेनाऽपश्य दर्शन ॥३८॥

३८ हिसा से दु ख उत्पन्न होते हैं। वे भय और वैर की वृद्धि करते हैं। मोह के द्वारा अपश्यदर्शन (अद्रष्टा) बने हुए पुरुष ! तू द्रष्टा की वाणी को देख।

धर्मप्रज्ञापनं यो हि, व्यत्ययेनाध्यवस्यति।
हिंसया मन्यते शान्तिं, स जनो मूढ उच्यते ॥३९॥

३९ जो धर्म के निरूपण को विपरीत रूप से ग्रहण करता है और हिंसा से शान्ति की उपलब्धि मानता है वह मनुष्य मूढ कहलाता है।

असारे नाम संसारे, सारं सत्यं हि केवलम्।
तत् पश्यनेव पश्यन्ति, न पश्यन्ति परे जनाः ॥४०॥

४० इस सारहीन संसार में केवल सत्य ही सारभूत है। सत्य को देखने वाला ही देखता है। जो सत्य को नहीं देखते वे कुछ भी नहीं देख पाते।

सिंहं यथा क्षुद्रमृगाश्चरन्त-
श्चरन्ति दूरं परिशङ्कमानाः
समीक्ष्य धर्मं मतिमान् मनुष्यो
दूरेण पापं परिवर्जयेच्च ॥४१॥

४१ जैसे घास चरने वाले क्षुद्र मृग सिंह से डरते हुए उससे दूर रहते हैं उसी प्रकार मतिमान् पुरुष धर्म को समझ कर दूर से पाप का वर्जन करे।

द्वादश अध्याय

मेघ प्राह—

किं ज्ञेयं किञ्च हेयं स्यादुपादेयञ्च किं विभो!।
शाश्वते नाम लोकेऽस्मिन्, किमनित्यञ्च विद्यते ॥१॥

१ मेघ बोला—विभो! ज्ञेय, हेय और उपादेय क्या है? और इस शाश्वत जगत् में अशाश्वत क्या है?

भगवान् प्राह—

धर्मोऽधर्मस्तथाकाशं, कालश्च पुद्गलस्तथा।
जीवो द्रव्याणि चैतानि, ज्ञेयदृष्टिरसौ भवेत् ॥२॥

२ भगवान ने कहा—धर्म (अस्तिकाय), अधर्म (अस्तिकाय), आकाश काल पुद्गल और जीव, ये छः द्रव्य हैं—यह ज्ञेय-दृष्टि है।

जीवाजीवौ पुण्यपापे, तथास्रवश्च संवरः।
निर्जरा बन्धमोक्षौ च, ज्ञेयदृष्टिरसौ भवेत् ॥३॥

३ आत्मा है वह शाश्वत है, पुनर्भवी है, बन्ध है और बन्ध का का कारण है मोक्ष है और मोक्ष का कारण है—यह ज्ञेय दृष्टि है।

अस्त्यात्मा शाश्वतो बन्धस्तदुपायश्च विद्यते।
अस्ति मोक्षस्तदुपायो, ज्ञेयदृष्टिरसौ भवेत् ॥४॥

४. जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, ये नौ तत्त्व हे—यह ज्ञेयदृष्टि है।

बन्धः पुण्यं तथा पापमाश्रवः कर्मकारणम्।
भवबीजमिदं सर्वं, हेयदृष्टिरसौ भवेत्॥५॥

५. बन्ध, पुण्य, पाप और कर्मागमन का हेतुभूत आश्रव है, ये सब ससार के बीज हे—यह हेयदृष्टि है।

निरोधः कर्मणामस्ति, सवरो निर्जरा तथा।
कर्मणां प्रक्षयश्चैषोपादेय-दृष्टिरिष्यते॥६॥

६. कर्मो का निरोध करना सवर कहलाता है और कर्मो के क्षय से होने वाली आत्म-शुद्धि निर्जरा कहलाती है—यह उपादेय दृष्टि है।

आत्मलीन मनोऽमूढ, योगो योगिभिरिष्यते।
मनोगुप्तिः समाधिश्च, साम्यं सामायिकं तथा॥७॥

७ जो मन आत्मा मे लीन एव अमूढ है उसे योगीलोग योग कहते हैं। मनोगुप्ति, समाधि, साम्य और सामायिक—ये सब योग के ही विविध रूप हैं।

ऐकाग्र्यं मनसश्चाद्यं, भवेच्चान्ते निरोधनम्।
मन.समितिगुप्त्योश्च, सर्वो योगो विलीयते॥८॥

८. ध्यान की दो अवस्थाये होती है—एकाग्रता और निरोध। प्रारम्भिक दशा मे मन की एकाग्रता होती है और अन्तिम अवस्था मे उसका निरोध होता है। मन के सम्यक् प्रवर्तन (समिति) और उसके निरोध (गुप्ति) में सारा योग समा जाता है।

मोक्षेण योजनाद् योगः, समाधिर्योग इष्यते।
स तपो विद्यते द्वेधा, बाह्येनाभ्यन्तरेण च ॥९॥

९. जो आत्मा को मोक्ष से जोडे, वह योग कहलाता है। ' आत्मा और मोक्ष का सम्बन्ध समाधि से होता है इसलिए समाधि को योग कहा जाता है। योग तप है। उसके दो भेद हैं—बाह्य-तप और आभ्यन्तर-तप।

चतुर्विधस्याहारस्य, त्यागोऽनशनमुच्यते।
आहारस्याल्पतामाहु रवमौदर्यमुत्तमम् ॥१०॥

१० अन्न, पानी, खाद्य (मेवा आदि) और स्वाद्य (लवग आदि), चार प्रकार के आहार के त्याग को अनशन कहते हैं। आहार, पानी, वस्त्र, पात्र एव कषाय की अल्पता करने को अवमौदर्य (ऊनोदरिका) कहते हैं।

अभिग्रहो हि वृत्तीनां, वृत्तिसंक्षेप इष्यते।
भवेद् रसपरित्यागो, रसादीना विवर्जनम् ॥११॥

११ विविध प्रकार के अभिग्रहो (प्रतिज्ञाओ) से जिस वृत्ति का निरोध किया जाता है उसे वृत्ति-सक्षेप (भिक्षाचरिका) कहते हैं। घी, तैल, दूध, दही, चीनी और मिठाई विकृतियों (विगयो) का त्याग करने को रस परित्याग कहते हैं।

कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः, वीरपद्मासनानि च।
गोदोहिकोत्कटिका च, कायक्लेशो भवेदसौ ॥१२॥

१२ कायोत्सर्ग (शरीर की सार-सम्हाल छोडकर तथा दोनों भुजाओं को नीचे की ओर झुकाकर खडा रहना अथवा स्थान,

ध्यान और मौन के अतिरिक्त शरीर की समस्त क्रियाओ का त्याग कर बैठना), पर्यकासन, वीरासन (दाए पैर को बाई शाथल (शक्थि) पर रखना और बाये पैर को दायी शाथल पर रखना तथा पर्यकासन की तरह हाथ रखना), पद्मासन (जघा के मध्य भाग मे दूसरी जंघा को मिलाना), गोदोहिका (गाय को दुहते समय जैसे बैठा जाता है वैसे बैठना) और ऊकडू बैठना—ये सब काय-क्लेश हैं।

इन्द्रियाणां मनसश्च, विषयेभ्यो निवर्तनम्।
स्वस्मिन् नियोजनं तेषां, प्रतिसंलीनता भवेत् ॥१३॥

१३ इन्द्रिय और मन को विषयो से निवृत्त कर अपने स्वरूप मे उनका नियोजन किया जाता है वह 'प्रतिसलीनता' है।

विशुद्ध्यै कृतदोषाणां, प्रायश्चित्तं विधीयते।
आलोचनं भवेत्तेषां, गुरोः पुरः प्रकाशनम् ॥१४॥

१४ किये हुए दोषो की शुद्धि के लिए जो क्रिया—अनुष्ठान किया जाता है, उसे 'प्रायश्चित्त' कहते हैं। गुरु के समक्ष अपने दोषो का निवेदन करना 'आलोचन' है।

प्रमादादशुभं योगं, गतस्य च शुभं प्रति।
भ्रमण जायते तत्तु, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥१५॥

१५ प्रमादवश अशुभयोग मे जाने पर पुन शुभ योग मे लौट आना 'प्रतिक्रमण' कहलाता है।

अभ्युत्थानं नमस्कारो, भक्तिः शुश्रूषणं गुरोः।
ज्ञानादीनां विनयनं, विनयः परिकथ्यते ॥१६॥

१६. गुरु आदि बड़ों के आने पर खड़ा होने, नमस्कार करने, भक्ति शुश्रुषा करने और ज्ञान आदि का बहुमान करने को 'विनय' कहते हैं।

आचार्य शैक्ष्य रुग्णानां, संघस्य च गणस्य च।
आसेवनं यथास्थाम, वैयावृत्यमुदाहृतम् ॥१७॥

१७. आचार्य, शैक्ष (नवदीक्षित), रुग्ण, गण और संघ की यथाशक्ति सेवा करने को 'वैयावृत्य' कहते हैं।

वाचना प्रच्छना चैव, तथैव परिवर्तना।
अनुप्रेक्षा धर्मकथा, स्वाध्यायः पञ्चधा भवेत् ॥१८॥

१८ स्वाध्याय पाँच प्रकार का होता है—

(१) वाचना (पढना),
(२) प्रच्छना (पूछना),
(३) परिवर्तना (कण्ठस्थ की हुई चीजों की पुनरावृत्ति करना);
(४) अनुप्रेक्षा (अर्थ चिन्तन करना),
(५) धर्म कथा करना।

एकाग्रचिन्तनं योगनिरोधो ध्यानमुच्यते।
धर्म्यं चतुर्विधं तत्र, शुक्लं चापि चतुर्विधम् ॥१९॥

१९ एकाग्र-चिन्तन एव मन, वचन और काया के निरोध को 'ध्यान' कहते हैं। धर्म्य ध्यान के चार प्रकार हैं :—(१) आज्ञा-विचय, (२) अपाय-विचय, (३) विपाक-विचय और (४) संस्थान-विचय। शुक्ल ध्यान के भी चार प्रकार हैं :—

(१) पृथक्त्ववितर्कसविचार, (२) एकत्ववितर्क अविचार;
(३) सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति, (४) समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति।

अर्हता देशितां दृष्टिमालम्ब्य क्रियते यदा।
पदार्थचिन्तनं यत्तत्, आज्ञाविचय उच्यते ॥२०॥

२० अरिहन्त के द्वारा उपदिष्ट दृष्टि को आलम्बन बनाकर जो पदार्थ का चिन्तन किया जाता है, वह "आज्ञा-विचय" कहलाता है।

सर्वेषामपि दुःखानां, रागद्वेषौ निबन्धनम्।
ईदृशं चिन्तनं यत्तत्, अपायविचयो भवेत् ॥२१॥

२१ राग और द्वेष सब दुःखों के कारण हैं—इस प्रकार का जो चिन्तन किया जाता है, वह 'अपाय-विचय' कहलाता है।

सुखान्यपि च दुःखानि, विपाकः कृतकर्मणाम्।
किं फलं कस्य चिन्तेति, विपाकविचयो भवेत् ॥२२॥

२२ सुख और दुःख किये हुए कर्मों के विपाक (फल) हैं, किस कर्म का क्या फल है इस प्रकार का जो चिन्तन किया जाता है, वह 'विपाक-विचय' कहलाता है।

लोकाकृतेश्च तद्वर्त्ति, भावानां प्रकृतस्तथा।
चिन्तनं क्रियते यत्तत्, संस्थानविचयो भवेत् ॥२३॥

२३ लोक की आकृति, उसमें होने वाले पदार्थ और प्रकृति का जो चिन्तन किया जाता है, वह 'संस्थान-विचय' कहलाता है।

उन्मादो न भवेद् बुद्धेरर्हद्वचन चिन्तनात्।
अपायचिन्तनं कृत्वा, जनो दोषाद् विमुच्यते ॥२४॥

२४ अरिहन्त की वाणी के चिन्तन से बुद्धि का उन्माद नहीं होता —यह 'आज्ञा-विचय' का फल है। राग और द्वेष के परिणाम-चिन्तन से मनुष्य दोष से मुक्त बनता है—यह 'अपाय-विचय' का फल है।

अशुभेन रतिं याति, विपाकं परिचिन्तयन्।
वैविध्यं जगतो दृष्ट्वा, नासक्तिं भजते पुमान् ॥२५॥

२५ कर्म-विपाक का चिन्तन करने वाला मनुष्य अशुभ कार्य में रति (आनन्द) का अनुभव नही करता—यह 'विपाक-विचय' का फल है। जगत् की विचित्रता को देखकर मनुष्य ससार में आसक्त नही बनता—यह 'सस्थान-विचय का फल है।

विशुद्धं जायते चित्तं, लेश्यापि विशुद्ध्यते।
अतीन्द्रियं भवेत्सौख्यं, धर्मध्यानेन देहिनाम् ॥२६॥

२६ धर्म्य ध्यान के द्वारा प्राणियो का चित्त शुद्ध होता है, लेश्या शुद्ध होती है और अतीन्द्रिय (आत्मिक) सुख की उपलब्धि होती है।

निजहाति शरीरं यो, धर्मचिन्तनपूर्वकम्।
अनासक्तः स प्राप्नोति, स्वर्गं गतिमनुत्तराम् ॥२७॥

२७ जो धम-चिन्तन पूर्वक शरीर को छोडता है वह अनासक्त व्यक्ति स्वग या अनुत्तर गति-मोक्ष को प्राप्त होता है।

अप्युत्तमं सहननवता पूर्वविदां भवेत्।
शुक्लस्य द्वयमाद्यन्तु, स्याच्च केवलिनोऽन्तिमम् ॥२८॥

२८ पृथक्त्ववितर्क सविचार—वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान के सहारे किया जाने वाल चिन्तन। किसी एक वस्तु को अपने ध्यान का विषय बनाकर दूसरे सब पदार्थों से उसके भिन्नत्व का

चिन्तन करना पृथक्त्व-वितर्क है और उसमे एक अर्थ (अवस्था) से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर, अर्थ से शब्द पर, शब्द से अर्थ पर एवं एक योग से दूसरे योग पर, परिवर्तन होता है इसलिए वह सविचार है।

एकत्ववितर्क अविचार—जिसमे एकत्व का चिन्तन किया जाता है वह एकत्व वितर्क है और इसमे परिवर्तन नही होता इसलिए यह अविचार है।

उक्त दोनो भेद उत्तम-सहनन—वज्र-ऋषभ-नाराच सहनन वाले तथा 'पूर्व' ग्रन्थो के अधिकारी मुनि मे पाये जाते हैं।

सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति—तेरहवे गुण स्थान के अन्त में जब शरीर की सूक्ष्म-क्रिया बाकी रहती है, वह अवस्था सूक्ष्मक्रिया है और उसका पतन नही होता अत वह अप्रतिपाति है।

समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति—अयोगावस्था—चतुर्दश गुण स्थान की अवस्था को समुच्छिन्नक्रिया कहते है और उसकी निवृत्ति नही होती इसलिए वह अनिवृत्ति है।

उक्त दोनो भेद केवली मे पाये जाते है।

सूक्ष्मक्रियोऽप्रतिपाती, समुच्छिन्नक्रियस्तथा।
क्षपयित्वा हि कर्माणि, क्षणेनैव विमुच्यते ॥२९॥

२९ सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाती और समुच्छिन्नक्रिय केवली ध्यान से कर्मो का क्षय कर क्षण भर मे मुक्त हो जाता है।

अन्तर्मुहूर्त्तमात्रञ्च, चित्तमेकत्रतिष्ठति।
छद्मस्थाना ततश्चित्तं, वस्त्वन्तरेषु गच्छति ॥३०॥

३० छद्मस्थ का ध्यान एक विषय में अन्तर्मुहूर्त तक स्थिर रहता है। फिर वह दूसरे विषय में चला जाता है।

स्थितात्मा भवति ध्याता, ध्यानमेकाग्र्यमुच्यते ।
ध्येय आत्मा विशुद्धात्मा, समाधिः फलमुच्यते ॥३१॥

३१ ध्यान के चार अंग है—ध्याता, ध्यान, ध्येय और समाधि। जिसकी आत्मा स्थित होती है वह ध्याता—ध्यान करने वाला—होता है। मन की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है, विशुद्ध आत्मा (परमात्मा) ध्येय है और उसका फल है समाधि।

उपधीनाञ्च भावाना, क्रोधादीनां परिग्रहः।
परित्यक्तो भवेद् यस्य व्युत्सर्गस्तस्य जायते ॥३२॥

३२ उपधि—वस्त्र-पात्र, भक्त-पान और क्रोध आदि—के परिग्रह के परित्याग को व्युत्सर्ग कहते है। व्युत्सर्ग उस व्यक्ति के होता है जिसके उक्त परिग्रह परित्यक्त होता है।

अनित्यो नाम ससारस्त्राणाय कोऽपि नो मम।
भवे भ्रमति जीवोऽसौ, एकोऽह देहत. परः ॥३३॥
अपवित्रमिद गात्र, कर्माकर्षण योग्यता।
निरोध. कर्मणा शक्यो, विच्छेदस्तपसा भवेत् ॥३४॥
धर्मोहि मुक्तिमार्गोऽस्ति, सुकृतालोकपद्धतिः।
दुर्लभावर्तते बोधिरेता द्वादश भावना ॥३५॥

३३-३४-३५ १ ससार अनित्य है—अनित्य भावना,
२ मेरे लिए कोई शरण नही है—अशरण भावना,
३ यह जीव ससार मे भ्रमण कर रहा है—भव भावना;

४ मै एक हूँ—एकत्व भावना,

५ मैं देह से भिन्न हूँ—अन्यत्व भावना,

६ शरीर अपवित्र है—अशौच भावना,

७ आत्मा मे कर्मों को आकृष्ट करने की योग्यता है—आश्रव भावना

८ कर्मो का निरोध किया जा सकता है—सवर भावना,

९ तप के द्वारा कर्मों का क्षय किया किया जा सकता है—तप भावना,

१० मुक्ति का मार्ग धर्म है—धर्म भावना

११ लोक पुरुषाकृति वाला है—लोक भावना, और

१२ बोधि दुलभ है—बोधि-दुर्लभ भावना।

ये बारह भावनाए हैं।

सुहृद सर्वजीवा मे, प्रमोदो गुणिषु स्फुरेत्।
करुणाकर्म खिन्नेषु, माध्यस्थ दोषकारिषु ॥३६॥

३६ १३ सब जीव मेरे मित्र हैं—मैत्री भावना

१४ गुणी व्यक्तियो मे मेरा अनुराग हो—प्रमोद भावना,

१५ कर्मों से आर्त्त बने हुए जीव दुःख से मुक्त बने—करुणा भावना और

१६ दुष्चेष्टा करने वाले व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा का भाव रखना—माध्यस्थ भावना।

इन चार भावनाओ को मिला देने पर सब भावनाए सोलह होती है।

संस्काराः स्थिरतां यान्ति, चित्तं प्रसादमृच्छति।
वर्द्धते समभावोऽपि, भावनाभिर्ध्रुवं नृणाम् ॥३७॥

३७ इन भावनाओं से संस्कार स्थिर बनते है, चित्त प्रसन्न होता है और समभाव की वृद्धि होती है।

भावनाभिर्विमूढाभिर्भावितं मूढतां व्रजेत्।
चित्तं ताभिरमूढाभिर्भावित मुक्तिमर्हति ॥३८॥

३८ मोह युक्त भावनाओं से भावित मन मूढ बनता है और मोह रहित भावनाओ से भावित होकर वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

आत्मोपलब्ध्यै जीवानां, भावनालम्बनं महत्।
तेन नित्यं प्रकुर्वीत, भावना भावितं मनः ॥३९॥

३९ आत्मा (आत्मस्वरूप) की उपलब्धि के लिए भावना महान् आलम्बन है, इसलिए मन को सदा भावनाओं से भावित बनाना चाहिए।

भावना-योग शुद्धात्मा, जले नौरिव विद्यते।
नौकेव तीर-सम्पन्नः सर्व-दुःखाद्विमुच्यते ॥४०॥

४० भावना-योग—अनित्य आदि भावना—से जिसकी आत्मा शुद्ध होती है वह जल मे नाव की भांति होता है। जैसे नाव किनारे पर पहुँचती है वैसे ही वह मन दु खो से मुक्त होता है, उनका पार पा जाता है।

भवेदास्रविणी नौका, न सा पारस्य गामिनी।
या निरास्रविणी नौका, सा तु पारस्य गामिनी ॥४१॥

४१. जो नाव आस्रविणी है—छेद वाली है—वह समुद्र के उस पार नहीं पहुँच पाती और जो निरास्रविणी है—छेद-रहित है—वह समुद्र के उस पार चली जाती है।

सम्यग्-दर्शन सम्पन्नः, श्रद्धावान् योगमर्हति।
विचिकित्सा समापन्नः, समाधिं नैव गच्छति॥४२॥

४२ जो सम्यग्-दर्शन से सम्पन्न और श्रद्धावान् है वह योग का अधिकारी है। जो सशयशील रहता है वह समाधि को प्राप्त नहीं होता।

आस्तिक्यं जायते पूर्वमास्तिक्याज्जायते शमः।
शमाद् भवति संवेगो, निर्वेदो जायते ततः॥४३॥
निर्वेदादनुकम्पास्यादेतानि मिलितानि च।
श्रद्धावतो लक्षणानि जायन्ते सत्यसेविनः॥४४॥

४३-४४ पहले आस्तिक्य (आत्मा, कर्म आदि मे विश्वास) होता है, आस्तिक्य से शम (क्रोध आदि का उपशम) होता है, शम से संवेग (मोक्षकी अभिलाषा) होती है, संवेग से निर्वेद (संसार से वैराग्य) होना है और निर्वेद से अनुकम्पा (सर्वभूत दया उत्पन्न) होती है—ये सब सत्य-सेवी श्रद्धावान् (सम्यक्दृष्टि) के लक्षण हे।

योगी व्रतेन सम्पन्नो, न लोकस्यैषणाञ्चरेत्।
भावशुद्धिः क्रियाश्चापि, प्रथयञ्छिवमश्नुते॥४५॥

४५ महाव्रतो से सम्पन्न योगी लोकैषणा मे नहीं फसता। वह मानसिक-शुद्धि और सत्क्रियाओं का विस्तार करता हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है।

न क्षीयन्ते न वर्धन्ते, सन्ति जीवा अवस्थिताः ।
अजीवो जीवतां नैति, न जीवो यात्यजीवताम् ॥४६॥

४६. जीव अवस्थित हैं । न घटते हैं और न बढते हैं । अजीव कभी जीव नही बनता और जीव कभी अजीव नही बनता ।

अवस्थानमिदं ध्रौव्यं, द्रव्यमित्यभिधीयते ।
परिवर्तनमत्रैव, पर्यायः परिकीर्तितः ॥४७॥

४७. अवस्थान को ध्रौव्य कहा जाता है और इसी में जो परिवर्तन होता है उसे पर्याय कहा जाता है । ध्रौव्य और परिवर्तन दोनों द्रव्य के अश है । द्रव्य का अर्थ है इन दोनो की समष्टि ।

मेघः प्राह—

कथं चित्तं न जानाति, कथं जानन् न चेष्टते ।
चेष्टमानं कथं नैति, श्रद्धानं चरणं विभो ! ॥४८॥

४८. मेघ बोला—विभो ! चित्त क्यो नही जानता ? जानता हुआ उद्योग क्यो नही करता ? उद्योग करता हुआ भी वह श्रद्धा और चारित्र को क्यो नही प्राप्त होता ?

भगवान् प्राह—

आवृतं न हि जानाति, प्रतिहतं न चेष्टते ।
मूढं विकारमाप्नोति, श्रद्धायां चरणेऽपि च ॥४९॥

४९. भगवान् ने कहा—जो चित्त आवृत्त होता है वह नही जानता, जो चित्त प्रतिहृत है वह उद्योग नही करता और जो चित्त मूढ होता है वह श्रद्धा और चारित्र मे विकार को प्राप्त होता है ।

मेघः प्राह—

केन स्यादावृतं चित्तं, केन प्रतिहतं भवेत्।
मूढञ्च जायते केन, ज्ञातुमिच्छामि सर्ववित् ॥५०॥

५० मेघ बोला—हे सर्वज्ञ! चित्त किससे आवृत्त होता है? किससे प्रतिहत होता है? और किससे मूढ बनता है? मैं जानना चाहता हूँ।

भगवान् प्राह—

आवृतं जायते चित्त, ज्ञानावरण-योगतः।
हतं स्यादन्तरायेण, मूढ मोहेन जायते ॥५१॥

५१ भगवान् ने कहा—चित्त ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत्त होता है, अन्तराय कर्म से प्रतिहत होता है और मोह से मूढ बनता है।

स्व-सन्मत्याऽपि विज्ञाय, धर्मसारं निशम्य वा।
मतिमान् मानवो नूनं, प्रत्याचक्षीत पापकम् ॥५२॥

५२ बुद्धिमान मनुष्य धर्म के सार को अपनी सद्बुद्धि से जानकर या सुनकर पाप का प्रत्याख्यान करे।

उपायान् यान् विजानीयादायुःक्षेमस्य चात्मनः।
क्षिप्रमेव यतिस्तेषां, शिक्षां शिक्षेत पण्डितः ॥५३॥

५३. सयमशील पण्डित अपने जीवन के कल्याणकर उपायो को जाने और उनका शीघ्र अभ्यास करे।

यथा कूर्मः स्वकाङ्गानि, स्वके देहे समाहरेत्।
एवं पापानि मेधावी, अध्यात्मेन समाहरेत् ॥५४॥

५४ जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गो को अपने शरीर में समेट लेता है उसी प्रकार मेधावी पुरुष अध्यात्म के द्वारा पापो को समेट ले।

संहरेत् हस्तपादौ च, मनः पञ्चेन्द्रियाणि च।
पापक परिणामञ्च, भाषादोष च तादृशम् ॥५५॥

५५ मेधावी पुरुष हाथ, पाव, मन, पाँच इन्द्रिय, असद्विचार और वाणी के दोष का उपसहार करे।

कृतञ्च क्रियमाण च, भविष्यन्नाम पापकम्।
सर्वं तन्नानुजानन्ति, आत्मगुप्ता जितेन्द्रियाः ॥५६॥

५६ जो पुरुष आत्मगुप्त और जितेन्द्रिय है वे अतीत, वर्तमान और भविष्य के पापो का अनुमोदन नही करते।

त्रयोदश अध्याय

मेघः प्राह—

कि साध्यं साधनं, किञ्च केन तन्नाम साध्यते।
साध्यसाधन संज्ञाने, जिज्ञासा मम वर्तते ॥१॥

१ मेघ बोला—साध्य क्या है? साधन क्या है? साध्य की साधना कौन करता है? भगवन्! मैं साध्य और साधन के विषय मे जानना चाहता हूँ।

भगवान प्राह—

प्रश्नो वत्स! दुरूहोऽयं, नानात्वेन विभज्यते।
नानारुचिरयं लोको, नानात्वं प्रतिपद्यते ॥२॥

२ भगवान् ने कहा—वत्स! यह प्रश्न दुरूह है। यह अनेक प्रकार से विभक्त होता है। लोग भिन्न-भिन्न रूचि वाले होते है अत साध्य भी अनेक हो जाते है।

विद्यते नाम लोकोऽयं, न वा लोकोऽपि विद्यते।
एवं संशयमापन्नः, साध्यं प्रति न धावति ॥३॥

३ लोक है या नही—इस प्रकार सदिग्ध रहने वाला व्यक्ति साध्य (८वे श्लोक मे बताए जाने वाले) की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नही करता।

विद्यते नाम जीवोऽयं, न वा जीवोपि विद्यते ।
एवं संशयमापन्नः, साध्यं प्रति न धावति ।।४।।

४. जीव है या नहीं—इस प्रकार संदिग्ध रहने वाला व्यक्ति साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नही करता ।

विद्यते नाम कर्मेवं, न वा कर्मापि विद्यते ।
एवं संशयमापन्नः, साध्यं प्रति न धावति ।।५।।

५ कर्म है या नही—इस प्रकार से संदिग्ध रहने वाला व्यक्ति साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नही करता ।

अस्ति कर्मफलं वेद्यं, न वा वेद्यं च विद्यते ।
एवं संशयमापन्नः, साध्यं प्रति न धावति ।।६।।

६. कर्म का फल भोगना पड़ता है या नही—इस प्रकार संदिग्ध रहने वाला व्यक्ति साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नही करता ।

अस्ति लोकोऽपि जीवोऽपि, कर्म कर्मफलं ध्रुवम् ।
एवं निश्चयमापन्नः, साध्यं प्रति प्रधावति ।।७।।

७ जीव है, कर्म है और कर्मफल भुगतना पडता है—इस प्रकार जो आस्थावान् है वह साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है ।

निरावृत्तिश्च निर्विघ्नो, निर्मोही दृष्टिमानसौ ।
आत्मा स्याद्विदमेवास्ति, साध्यमात्मविदां नृणाम् ।।८।।

८ आत्मविद् (आत्मा को जानने वाले) पुरुषों के लिए निरावरण, निर्विघ्न—निरन्तराय, निर्मोह और दृष्टिसम्पन्न—सम्यग्दर्शनयुक्त, आत्मा ही साध्य है ।

आवरणस्य विघ्नस्य, मोहस्य दृक्चरित्रयोः।
निरोधो जायते तेन, संयमः साधनं भवेत् ॥९॥

९. संयम से आवरण, विघ्न, दृष्टिमोह और चारित्र मोह का निरोध होता है इसलिए वह आत्मा की प्राप्ति—साध्य की सिद्धि का साधन है।

आत्मानं संयतं कृत्वा, सततं श्रद्धयान्वितः।
आत्मानं साधयेच्छान्तः, साध्यं प्राप्नोति स ध्रुवम् ॥१०॥

१० जो श्रद्धासम्पन्न पुरुष अपने को संयमी बना आत्म-साधना करता है वह शान्त—कषाय रहित पुरुष साध्य को प्राप्त होता है।

आत्मैव परमात्मास्ति, राग - द्वेष - विवर्जितः।
शरीरमुक्तिमापन्नः, परमात्मा भवेदसौ ॥११॥

११ आत्मा ही परमात्मा है। वह राग और द्वेष या शरीर से मुक्त होकर परमात्मा हो जाता है।

स्थूलदेहस्य मुक्त्याऽसौ, भवान्तरं प्रधावति।
अन्तरालगतिं कुर्वन्, ऋजुं वक्रां यथोचिताम् ॥१२॥

१२ औदारिक या वैक्रिय शरीर स्थूल कहलाते हैं। इनसे मुक्त होने पर आत्मा भवान्तर में जाते समय जो गति करती है वह 'अन्तराल-गति' कहलाती है। अन्तराल-गति के दो प्रकार हैं—ऋजु और वक्र। जो आत्मा समश्रेणि में उत्पन्न होती है वह ऋजु-गति करती है और जो विषमश्रेणि में उत्पन्न होती है वह वक्र-गति करती है।

यावत् सूक्ष्मं शरीरं स्यात्, तावन्मुक्तिर्न जायते।
पूर्णसंयमयोगेन, तस्य मुक्तिः प्रजायते ॥१३॥

१३. जब तक सूक्ष्म-शरीर (तैजस और कार्मण) विद्यमान रहता है तब तक आत्मा मुक्त नहीं होती। आत्मा की मुक्ति पूर्ण संयम के द्वारा होती है।

बाध्यमानो ग्राम्यधर्मै, रूक्षं भुञ्जीत भोजनम्।
प्रकुर्याववमौदर्यमूर्ध्वं, स्थानं स्थितो भवेत् ॥१४॥

१४ मुनि ग्राम्यधर्म (काम विकार) से पीडित होने पर रूक्ष भोजन करे, मात्रा से कम खाए और कायोत्सर्ग करे।

नैकत्र निवसेन्नित्यं, ग्रामं ग्राममनुव्रजेत्।
व्युच्छेदं भोजनस्यापि, कुर्याद् रागनिवृत्तये ॥१५॥

१५ मुनि एक स्थान मे सदा निवास न करे, गांव-गाव में विहार करे और राग की निवृत्ति के लिए भोजन को भी छोडे।

श्रद्धां कश्चिद् व्रजेत्पूर्वं, पश्चात् संशयमृच्छति।
पूर्वं श्रद्धां न यात्यन्यः, पश्चाच्छ्रद्धां निषेवते ॥१६॥

१६ कोई पहले श्रद्धालु होता है और फिर लक्ष्य के प्रति संदिग्ध बन जाता है, कोई पहले सदेहशील होता है और पीछे श्रद्धालु।

पूर्वं पश्चात् परः कश्चित्, श्रद्धां स्पृशति नो जनः।
पूर्वं पश्चात् परः कश्चित्, सम्यक् श्रद्धां निषेवते ॥१७॥

१७. कोई न पहले श्रद्धालु होता है और न पीछे भी; कोई पहले भी श्रद्धालु होता है और पीछे भी।

सम्यक् स्याद्यथवाऽसम्यक्, सम्यक् श्रद्धावतो भवेत्।
सम्यक् चापि न वा सम्यक्, श्रद्धाहीनस्य जायते ।।१८।।

१८. कोई विचार सम्यक् हो या असम्यक्, श्रद्धावान् पुरुष में वह सम्यक् रूप से परिणत होता है और अश्रद्धावान् में सम्यक् विचार भी असम्यक् रूप से परिणत होता है।

ऊर्ध्वं स्रोतोऽप्यधः स्रोतः, तिर्यक् स्रोतो हि विद्यते।
आसक्तिर्विद्यते यत्र, बन्धनं तत्र विद्यते ।।१९।।

१९ ऊपर स्रोत है, नीचे स्रोत है और मध्य मे भी स्रोत है। जहा आसक्ति है—स्रोत है—वहाँ बन्धन है।

यावन्तो हेतवो लोके, विद्यन्ते बन्धनस्य हि।
तावन्तो हेतवो लोके, मुक्तेरपि भवन्ति च ।।२०।।

२० जितने कारण बन्धन के है उतने ही कारण मुक्ति के है।

सर्वे स्वरा निवर्तन्ते, तर्कस्तत्र न विद्यते।
ग्राहिका न मतिस्तत्र, तत् साध्यं परमं नृणाम् ।।२१।।

२१ जिसे व्यक्त करने के लिए सारे स्वर—शब्द अक्षम है, तर्क की जहा पहुँच नही है, बुद्धि जिसे पकड नही सकती, वह (आत्मा) मनुष्यो का परम साध्य है।

ग्रामेवा यदि वाऽरण्ये, न ग्रामे नाप्यरण्यके।
रागद्वेषलयो यत्र, तत्र सिद्धिः प्रजायते ।।२२।।

२२. सिद्धि गाव मे भी हो सकती है और अरण्य मे भी हो सकती है। वह न गाव मे हो सकती और न अरण्य में भी। सिद्धि वही होती है जहा राग और द्वेष क्षीण होता है।

न मुण्डितेन श्रमणः, न ओंकारेण ब्राह्मणः।
मुनिर्नारण्यवासेन, कुशचीरेंन तापसः ॥२३॥

२३. सिर को मूंड लेने मात्र से कोई श्रमण नही होता, ओंकार को जप लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नही होता, अरण्य में निवास करने मात्र से कोई मुनि नही होता और कुश के बने हुए वस्त्र पहनने मात्र से कोई तापस नही होता।

श्रमणः समभावेन, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः ।
ज्ञानेन च मुनिर्लोके, तपसा तापसो भवेत् ॥२४॥

२४ श्रमण वह होता है जो समभाव रखे, ब्राह्मण वह होता है जो ब्रह्मचर्य का पालन करे, मुनि वह होता है जो ज्ञान की उपासना करे और तापस वह होता है जो तपस्या करे।

कर्मणा ब्राह्मणो लोकः, कर्मणा क्षत्रियो भवेत्।
कर्मणा जायते वैश्यः, शूद्रो भवति कर्मणा ॥२५॥

२५ मनुष्य कर्म (क्रिया) द्वारा ब्राह्मण होता है, कर्म द्वारा क्षत्रिय होता है, कर्म द्वारा वैश्य होता है और कर्म द्वारा शूद्र होता है।

न जातिर्न च वर्णोऽभूद्, युगे युगल-चारिणाम्।
ऋषभस्य युगादेवा, व्यवस्था समजायत ॥२६॥

२६ जो भाई-बहन के रूप में एक साथ उत्पन्न होते है और पति-पत्नी बनकर साथ ही मरते है. उन्हे युगलचारी—यौगलिक कहा जाता है। भगवान् ऋषभदेव के पहले का काल युगलचारियों का युग कहलाता है। उस युग मे न कोई जाति थी और न कोई वर्ण था। भगवान् ऋषभ के युग मे जाति और वर्ण की व्यवस्था का प्रवर्तन हुआ।

एकैव मानवी जातिराचारेण विभज्यते ।
जातिगर्वो महोन्मादो, जातिवादो न तात्त्विकः ।।२७।।

२७. मनुष्य जाति एक है। उसका विभाग आचार के आधार पर होता है। जाति का गर्व करना बहुत बडा उन्माद है क्योकि जातिवाद कोई तात्त्विक वस्तु नही है, उसका कोई आधार नही है।

जातिवर्णशरीरादि, बाह्यैर्भेदैर्विमोहितः ।
आत्माऽऽत्मसु घृणां कुर्यादिषमोहो महान् नृणाम् ।।२८।।

२८. जाति, वर्ण, शरीर आदि बाह्य भेदो से विमूढ बनकर एक आत्मा दूसरी आत्मा से घृणा करे—यह मनुष्यो का महान् मोह है।

यस्तिरस्कुरुतेऽन्यं स, संसारे परिवर्तते ।
मन्यते स्वात्मनस्तुल्यानन्यान् स मुक्तिमश्नुते ।।२६।।

२६ जो दूसरे का तिरस्कार करता है वह ससार मे पर्यटन करता है और जो दूसरों को आत्म-तुल्य मानता है वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

अनायको महायोगी, मौनं पदमुपस्थित. ।
साम्यं प्राप्तः प्रेष्यप्रेष्यं, वन्दमानो न लज्जते ।।३०।।

३० मौनपद (श्रामण्य) मे उपस्थित होकर जो चक्रवर्ती महान् योगी बना और समत्व को प्राप्त हुआ वह अपने से पूर्व दीक्षित अपने भृत्य के भृत्य को भी वन्दना करने मे लज्जित नही होता। यह है आत्म-साम्य का दर्शन।

मनः साहसिको भीमो, दुष्टोऽश्वः परिधावति ।
सम्यग् निगृह्यते येन, स मुनिर्नैव नश्यति ।।३१।।

३१. मनुष्य दुष्ट घोड़ा है। वह साहसिक और भयंकर है। वह दौड रहा है। उसे जो भली-भांति अपने अधीन करता है वह मुनि नष्ट नही होता—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

उन्मार्गे प्रस्थिता ये च, ये च गच्छन्ति मार्गतः।
सर्वे ते विदिता यस्य, स मुनिर्नैव नश्यति ॥३२॥

३२. जो उन्मार्ग मे चलते हैं और जो मार्ग में चलते है, वे सब जिसे ज्ञात है, वह मुनि नष्ट नही होता—सन्मार्ग से च्युत नही होता।

आत्मायमजितः शत्रुः, कषायाः इन्द्रियाणि च।
जित्वा तान् विहरेन्नित्यं, स मुनिर्नैव नश्यति ॥३३॥

३३ कषाय और इन्द्रियाँ शत्रु हैं। वह आत्मा भी शत्रु है जो इनके द्वारा पराजित है। जो उन्हे जीतकर विहार करता है वह मुनि नष्ट नही होता—सन्मार्ग से च्युत नही होता।

रागद्वेषादयस्तीव्राः, स्नेहाः पाशा भयङ्कराः।
ताञ्छित्वा विहरेन्नित्यं, स मुनिर्नैव नश्यति ॥३४॥

३४ प्रगाढ राग-द्वेष और स्नेह—ये भयकर पाश हैं। जो इन्हे छेद कर विहार करता है वह मुनि नष्ट नही होता—सन्मार्ग से च्युत नही होता।

अन्तो हृदयसम्भूता, भवतृष्णा लता भवेत्।
विहरेत्तां समुच्छिद्य, स मुनिर्नैव नश्यति ॥३५॥

३५ यह भव-तृष्णा रूपी लता हृदय के भीतर उत्पन्न होती है। उसे उखाड कर जो विहार करता है वह मुनि नष्ट नही होता—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

कषाया अग्नयः प्रोक्ताः, श्रुत-शील-तपो जलम् ।
एतद्धारा हता यस्य, स मुनिर्नैव नश्यति ॥३६॥

३६ कषायो को अग्नि कहा गया है। श्रुत, शील और तप—यह जल है। जिसने इस जल धारा से कषायाग्नि को आहत कर डाला—बुझा डाला, वह मुनि नष्ट नही होता—सन्मार्ग से च्युत नही होता।

येनात्मा साधितस्तेन, विश्वमेतत् प्रसाधितम् ।
येनात्मा नाशितस्तेन, सर्वमेव विनाशितम् ॥३७॥

३७ जिसने आत्मा को साध लिया उसने विश्व को साध लिया। जिसने आत्मा को गँवा दिया उसने सब कुछ गँवा दिया।

गच्छेद् दृष्टेषु निर्वेदमदृष्टेषु मतिं सृजेत् ।
दृष्टादृष्टविभागेन, नैकान्तं स्थापयेन्मतिम् ॥३८॥

३८ आत्मदर्शी साधक दृष्ट वस्तु से विरक्त बने और अदृष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए बुद्धि को लगाए। दृष्ट के प्रति आस्था और अदृष्ट के प्रति अनास्था रखने वाला व्यक्ति एकान्त दृष्टि वाला होता है। वह अपनी बुद्धि का आग्रहपूर्ण प्रयोग करता है किन्तु साधक को ऐसा नही करना चाहिए। उसे दृष्ट के प्रति अनास्था और अदृष्ट के प्रति आस्था भी रखनी चाहिए।

श्रमणो वा गृहस्थो वा, यस्यधर्मे मतिर्भवेत् ।
आत्माऽसौ साध्यते तेनं, साध्ये कुर्यात् स्थिरं मनः ॥३९॥

३९ जिसकी मति धर्म मे लगी हुई है वह श्रमण हो या गृहस्थ, साध्य मे मन को स्थिर बनाकर आत्मा को साध लेता है।

चतुर्दश अध्याय

मेघः प्राह—

गृह-प्रवर्तने लग्नो, गृहस्थो भोगमाश्रितः।
साध्यस्याराधनां कर्तुं, भगवन् कथमर्हति ॥१॥

१ मेघ बोला—भगवन्! जो गृहस्थ भोग का सेवन करता है और गृहस्थी चलाने मे लगा हुआ है वह साध्य की—मोक्ष की, आराधना कैसे कर सकता है?

भगवान् प्राह—

देवानुप्रिय! यस्य स्यादासक्तिः क्षीणतांगता।
साध्यस्याराधनां कुर्यात् स गृहे स्थितिमाचरन् ॥२॥

२ भगवान् ने कहा—देवानुप्रिय! जिस व्यक्ति की आसक्ति क्षीण हो जाती है वह घर मे रहता हुआ भी मोक्ष की आराधना कर सकता है।

गृहेऽप्याराधना नास्ति, गृहत्यागेऽपि नास्ति सा।
आशा येन परित्यक्ता, साधना तस्य जायते ॥३॥

३. मोक्ष की आराधना न घर मे है और न घर को छोडने मे, अर्थात् उसका अधिकारी गृहस्थ भी नही है और गृह-त्यागी भी नही है। उसका अधिकारी वह है जो आशा को त्याग चुका है।

नाशा त्यक्ता गृहं त्यक्त, नासौ त्यागी न वा गृही।
आशा येन परित्यक्ता, त्यागं सोऽर्हति मानवः ।।४।।

४ जिसने घर का त्याग किया किन्तु आशा का त्याग नही किया वह न त्यागी है और न गृहस्थ। वही मनुष्य त्याग का अधिकारी है जो आशा को त्याग चका है।

पदार्थ-त्यागमात्रेण, त्यागी स्याद् व्यवहारतः।
आशायाः परिहारेण, त्यागी भवति वस्तुतः ।।५।।

५ जो व्यक्ति केवल पदार्थ का त्याग करता है किन्तु उसकी वासना का त्याग नही करता वह व्यवहारदृष्टि से त्यागी है, वास्तव मे नही। वास्तव मे त्यागी वही है जो आशा का त्याग करता है।

पूर्णस्त्यागः पदार्थाना, कर्तुं शक्यो न देहिभिः।
आशायाः परिहारस्तु, कर्तुं शक्योऽस्ति तैरपि ।।६।।

६ देह-धारियो के लिए पदार्थों का सर्वथा परित्याग करना सभव नही होता किन्तु वे आशा का सर्वथा परित्याग कर सकते है।

यावानाशा - परित्याग, क्रियते गेहवासिभिः।
तावान् धर्मो मया प्रोक्त., सोऽगार - धर्म उच्यते ।।७।।

७ गृहस्थ आशा का जितना परित्याग करते है उसी को मैने धर्म कहा है और वही अगार-धर्म कहलाता है।

सम्यक् श्रद्धा भवेत्तत्र, सम्यग्ज्ञानं प्रजायते।
सम्यक् चारित्र सम्प्राप्तेर्योग्यता तत्र जायते ।।८।।

८ जिसमे सम्यक्-श्रद्धा होती है उसी में सम्यग्-ज्ञान होता है और जिसमें ये दोनों होते हैं उसी मे सम्यग्-चारित्र के प्राप्ति की योग्यता होती है।

योग्यताभेदतो भेदो, धर्मस्याधिकृतो मया।
एक एवान्यथा धर्मः, स्वरूपेण न भिद्यते ॥९॥

९ योग्यता मे तारतम्य होने के कारण मैने धर्म के भेद का निरूपण किया। स्वरूप की दृष्टि से वह एक है, उसका कोई विभाग नही होता।

महाव्रतात्मको धर्मोनगाराणांच जायते।
अणुव्रतात्मको धर्मो, जायते गृहमेधिनाम् ॥१०॥

१० अनगार (घर का त्याग करने वाले मुनि) के लिए महाव्रत-रूप धर्म का और गृहस्थ के लिए अणुव्रतरूप धर्म का विधान किया गया है।

मेघः प्राह—

अगारिणां कथं धर्मो, व्यापृतानाञ्च कर्मसु।
गृहिणां यदि धर्मः स्यादनगारो हि को भवेत् ॥११॥

११ मेघ बोला—गृहस्थी मे लगे हुए गृहस्थो के धर्म कैसे हो सकता है? यदि गृहस्थ भी धर्म के अधिकारी हो तो फिर साधु कौन बनेगा?

भगवान् प्राह—

सत्यं देवानुप्रियंतद्, मुमुक्षा यस्य नोत्कटा।
स वृत्तिमनगाराणां, न नाम प्रतिपद्यते ॥१२॥

१२. भगवान् ने कहा—देवानुप्रिय ! यह सच है कि जिसमे मुक्त होने की प्रबल इच्छा नही होती वह मुनि-धर्म को स्वीकार नही करता।

मुमुक्षा यावती यस्य, समतां तावतीं श्रितः।
आचरति गृहीं धर्मं, व्यापृतोऽपि च कर्मसु ॥१३॥

१३ जिस गृहस्थ मे मुक्त होने की जितनी भावना होती है वह उतनी ही मात्रा मे समता का आचरण करता है और जितनी मात्रा मे समता का आचरण करता है उतनी ही मात्रा मे धर्म का आचरण करता है। इस प्रकार वह गृहस्थी के कामो मे लगा रहने पर भी धर्म की आराधना करने का अधिकारी है।

द्विविधं विद्यते वीर्यं, लब्धिश्च करणं तथा।
अन्तरायक्षयाल्लब्धिः, करणं वपुषाश्रितम् ॥१४॥

१४ वीर्य के दो प्रकार है —(१) लब्धिवीर्य—योग्यतात्मक शक्ति, (२)करणवीर्य—क्रियात्मक शक्ति। अन्तराय के दूर होने पर लब्धि का विकास होता है और शरीर के माध्यम से शक्ति का प्रयोग होता है।

वपुष्मतो भवेद् वाणी, मनोऽप्यस्यैव जायते।
शारीरिकं वाचिकञ्च मानसं तत् त्रिधा भवेत् ॥१५॥

१५ जिसके शरीर होता है उसी के वाणी और मन होते है। इसलिए करणवीर्य तीन प्रकार का होता है—शारीरिक, वाचिक और मानसिक।

कर्मयोगः प्रवृत्तिर्वा, व्यापारः करणं क्रिया।
एकार्थका भवन्त्येते, शब्दाः कर्माभिधायका ॥१६॥

१६ कर्म, योग, प्रवृत्ति, व्यापार, करण और क्रिया—ये करण कर्म के वाचक (एकार्थक शब्द) हैं।

सदसतो प्रभेदेन, द्विविधं कर्म विद्यते।
निवृत्तिरसतः पूर्वं, ततः सतोऽपि जायते ॥१७॥

१७ कर्म (करण) के दो प्रकार है—सत् और असत्। साधना के प्रारम्भ मे असत् कर्म की निवृत्ति होती है और जब साधना अपने चरम रूप मे जा पहुँचती है तब सत्कर्म की भी निवृत्ति हो जाती है।

निरोध कर्मणां पूर्ण, कर्तुं शक्यो न देहिभि।
विनिवृत्ते शरीरेऽस्मिन्, स्वयं कर्म निवर्तते ॥१८॥

१८ जब तक शरीर रहता है तब तक देहधारी जीव कर्म (क्रिया) का पूर्ण रूप से निरोध नही कर सकते। शरीर के निवृत्त होने पर कर्म अपने आप निवृत्त हो जाता है।

विद्यमाने शरीरेऽस्मिन्, सततं कर्म जायते।
निवृत्तिरसतः कार्या, प्रवृत्तिश्च सतस्तथा ॥१९॥

१९ जब तक शरीर विद्यमान रहता है तब तक निरन्तर कर्म होता रहता है। इस दशा मे असत्कर्म की निवृत्ति और सत्कर्म की प्रवृत्ति करनी चाहिए। असत् की निवृत्ति होते होते एक दिन सत की भी निवृत्ति हो जाती है।

मेघ प्राह—

कुर्वन् कृषिञ्च वाणिज्य, रक्षा शिल्प पृथग् विधम्।
कथं सतीं प्रवृत्तिञ्च, गृहस्थ कर्तुमर्हति ॥२०॥

२०. मेघ बोला—कृषि, वाणिज्य, रक्षा, शिल्प आदि विभिन्न प्रकार के कर्म करता हुआ गृहस्थ सत्प्रवृत्ति कैसे कर सकता है ?

भगवान् प्राह—

अर्थजानर्थजा चेति, हिंसा प्रोक्ता मयाद्विधा।
अनर्थजां त्यजन्नेष, प्रवृत्ति लभते सतीम् ॥२१॥

२१ भगवान-ने कहा—मैंने हिंसा के दो प्रकार बतलाए हैं — (१) अर्थजा, (२) अनर्थजा। गृहस्थ अनर्थजा हिंसा का परित्याग सहज ही कर सकता है और जितनी मात्रा में वह उसका त्याग करता है उतनी मात्रा में उसकी प्रवृत्ति सत् हो जाती है।

आत्मने ज्ञातये तद्वद्, राज्याय सुहृदे तथा।
या हिंसा क्रियते लोकैरर्थजा सा किलोच्यते ॥२२॥

२२ अपने लिए, परिवार, राज्य और मित्रों के लिए जो हिंसा की जाती है, वह अर्थजा हिंसा कहलाती है।

परस्परोपग्रहो हि, समाजालम्बनं भवेत्।
तदर्थं क्रियते हिंसा, कथ्यते सापि चार्थजा ॥२३॥

२३ परस्पर एक दूसरे का सहयोग करना समाज का आधारभूत तत्त्व है। इस दृष्टि से समाज के लिए जो हिंसा की जाती है उसे भी अर्थजा हिंसा कहा जाता है।

कुर्वन्नप्यर्थजां हिंसा, नासक्तिं कुरुते दृढाम्।
तदानीं लिप्यते नासौ, चिक्कणैरिह कर्मभिः ॥२४॥

२४ अर्थजा हिंसा करते समय जो प्रबल आसक्ति नहीं रखता वह चिकने कर्म-परमाणुओं से लिप्त नहीं होता।

हिंसा न क्वापि निर्दोषा, परं लेपेन भिद्यते।
आसक्तस्य भवेद् गाढोऽनासक्तस्य भवेन्मृदुः ॥२५॥

२५. हिंसा कही भी निर्दोष नही होती, परन्तु उसके लेप में अन्तर होता है। आसक्त पुरुष कर्म के गाढलेप से और अनासक्त पुरुष मृदुलेप से लिप्त होता है।

सम्यग्दृष्टेरिदं सारं, नानर्थं यत्प्रवर्तते।
प्रयोजनवशाद् यत्र, तत्र तद्वान्न मूर्च्छति ॥२६॥

२६ सम्यग्दृष्टि बनने का यह सार है कि वह अनर्थ (प्रयोजन बिना) हिंसा मे प्रवृत्त नही होता और प्रयोजनवश जो हिंसा करता है उसमे भी आसक्त नही होता ।

सम्मतानि समाजेन कुर्वन् कर्माणि मानसम्।
अनासक्तं निदधीत, स्याल्लेपो न यतो दृढः ॥२७॥

२७ समाज द्वारा सम्मत कर्म को करता हुआ व्यक्ति मन को अनासक्त रखे जिससे कि वह उसके दृढलेप से लिप्त न हो।

अविरतिः प्रवृत्तिश्च, द्विविधं बन्धनं भवेत्।
प्रवृत्तिस्तु कदाचित्, स्यादविरतिर्निरन्तरम् ॥२८॥

२८ बन्धन दो प्रकार के है—अविरिति और प्रवृत्ति। प्रवृत्ति कभी-कभी होती है, अविरिति निरन्तर रहती है।

दुष्प्रवृत्तिमकुर्वाणो, लोकः सर्वोऽप्यहिंसकः।
परन्त्वविरतेस्त्यागामृतेनासौ स्यादहिंसकः ॥२९॥

२९. दुष्प्रवृत्ति न करने वाला अहिंसक होता हो तो सारा संसार ही अहिंसक है क्योंकि कोई भी व्यक्ति निरन्तर दुष्प्रवृत्ति नहीं करता। परन्तु अहिंसक वह होता है जो अविरति का त्याग करे अर्थात् कभी और किसी प्रकार की हिंसा न करने का दृढ संकल्प करे।

दुष्प्रवृत्तः क्वचित् साधुर्नाव्रती स्यान्मुनिः क्वचित्।
सत्प्रवृत्तोऽपि नो साधुरव्रती जायते क्वचित्॥३०॥

३० जो दुष्प्रवृत्त है वह क्वचित् साधु हो सकता है परन्तु अव्रती कहीं और कभी साधु नहीं हो सकता। अव्रती सत्प्रवृत्ति करे फिर भी वह साधु नहीं होता। तात्पर्य यह है कि व्रती के द्वारा भी कभी दुष्प्रवृत्ति हो सकती है किन्तु उससे वह अव्रती नहीं होता और अव्रती सत्प्रवृत्ति करने मात्र से साधु नहीं होता। साधु वह होता है जिसके अव्रत न हो—असंयम न हो।

इतस्ततः प्रसर्पन्ति, जना लोभाविलाशया।
तेन दिग्विरतिः कार्या, गृहिणा धर्मचारिणा॥३१॥

३१ लोभी मनुष्य अर्थार्जन के लिए इधर-उधर सुदूर प्रदेश तक जाते हैं। इसलिए धार्मिक गृहस्थ को दिग्विरति—दिशाओं में गमनागमन का परिमाण करना चाहिये।

उपभोगः पदार्थानां, मोहं नयति देहिनः।
भोगस्य विरतिः कार्या, तेन धर्मस्पृशा विशा॥३२॥

३२ पदार्थों का भोग मनुष्य को मोह में डालता है इसलिए धार्मिक पुरुष को भोग की विरति (परिमाण) करना चाहिए।

कल्पनाभिः प्रमादेन, दण्डः प्रयुज्यते जनैः ।
अनर्थदण्ड - विरतिः, कार्या धर्मस्पृशा चिरात् ॥३३॥

३३ मनुष्य अनेक प्रकार की कल्पनाओं व प्रमाद के वशीभूत होकर दण्ड (हिंसा) का प्रयोग करता है। धार्मिक पुरुष को अनर्थ दण्ड (अनावश्यक हिंसा) से निवृत्त होना चाहिए।

सावद्ययोग विरतेरभ्यासो जायते ततः ।
समभावविकासः स्यात् तच्च सामायिकं व्रतम् ॥३४॥

३४ जिससे सावद्य (पापसहित) प्रवृत्तियों से निवृत्त होने का अभ्यास होता है और समभाव का विकास होता है वह सामायिक' व्रत कहलाता है।

सावधिकञ्च हिंसादेः, परित्यागो यथाविधि ।
क्रियते व्रतमेतत्, देशावकाशिकं भवेत् ॥३५॥

३५ एक निश्चित अवधि के लिए विधिपूर्वक जो हिंसा का परित्याग किया जाता है वह देशावकाशी व्रत कहलाता है।

सावद्ययोग - विरतिः, सोपवासा विधीयते ।
द्रव्यक्षेत्रादि - भेदेन, पौषधं तद् भवेद् व्रतम् ॥३६॥

३६ उपवासपूर्वक द्रव्य—वस्तुओं की मर्यादा, क्षेत्र–अमुक स्थान से आगे न जाना काल–अहोरात्र, भाव– राग–द्वेष रहित– इन चार प्रकारों से सावद्य योग (असत् प्रवृत्ति) की विरति करना 'पौषध' व्रत कहलाता है।

प्रासुकं दोषमुक्तञ्च, भक्तपानं प्रदीयते ।
मुनये आत्मसंकोचं, संविभागोऽतिथेर्व्रतम् ॥३७॥

३७. अपना सकोच कर (स्वय कुछ कम खाकर) साधु को प्रासुक–अचित्त, आधाकर्म (साधु के लिए बनाया हुआ भोजन) आदि दोष-रहित–जो भोजन-पानी दिया जाता है वह 'अतिथि-सविभाग' व्रत कहा जाता है।

सलेखना प्रकुर्वीत, श्रावको मारणान्तिकीम्।
मृत्यु सन्निहितं ज्ञात्वा, मृत्योरविचलाशयः ॥३८॥

३८ मृत्यु से न डरने वाला श्रावक मृत्य को सन्निहित (पास मे) जानकर मारणान्तिक सलेखना–अनशन के पूर्व शरीर को कृश करने के लिए क्रमश विगय आदि का परित्याग करे।

सयमस्य प्रकर्षाय, मनोनिग्रहहेतवे।
प्रतिमाः प्रतिपद्येत, श्रावकः स्वोचिता इमाः ॥३९॥

३९ सयम के उत्कर्ष और मन का निग्रह करने के लिए श्रावक अपने लिए उचित इन प्रतिमाओ को स्वीकार करे।

दर्शनप्रतिमा तत्र, सर्वधर्मरुचिर्भवेत्।
दृष्टिमाराधयँल्लोकः, सर्वमाराधयेत्परम् ॥४०॥
व्रतसामयिकपौषधकार्योत्सर्गा मिथुनवर्जनकम्।
सच्चित्ताहारवर्जन स्वयमारम्भवर्जने चापि ॥४१॥
प्रेष्यारम्भ - विवर्जनमुद्दिष्टभक्त - वर्जनञ्चापि।
श्रमणभूत एकादश प्रतिमा एता विनिर्दिष्टाः ॥४२॥

४०-४१-४२ श्रावक की ग्यारह प्रतिमाए होती है। पहली प्रतिमा का नाम 'दर्शन-प्रतिमा' है। सब धर्मो (कर्म-मुक्ति के समस्त साधनो) के प्रति जो रुचि होती है उसे 'दर्शन-प्रतिमा' कहा जाता

है। जो व्यक्ति दृष्टि की आराधना करता है वह उत्तरवर्ती सभी गुणो की आराधना कर लेता है।

(२) व्रत-प्रतिमा,
(३) सामायिक-प्रतिमा,
(४) पौषध-प्रतिमा,
(५) कायोत्सर्ग-प्रतिमा,
(६) ब्रह्मचर्य-प्रतिमा,
(७) सचित्ताहारवर्जन-प्रतिमा,
(८) स्वयआरम्भवर्जन-प्रतिमा,
(९) प्रेष्यारम्भवर्जन-प्रतिमा,
(१०) उद्दिष्टभक्तवर्जन-प्रतिमा,
(११) श्रमणभूत-प्रतिमा

—ये ग्यारह प्रतिमाए है। इनका कालमान और विधि निम्न प्रकार से जाननी चाहिए [२१]

---

(१) १ दर्शन-श्रावक—इसका कालमान एक मास का है। इसमे सर्व-धर्म (पूर्ण-धर्म) रुचि होना, सम्यक्त्व-विशुद्धि रखना–सम्यक्त्व के दोषो को वर्जना।

२ व्रत-प्रतिमा–इसका कालमान दो मास का है। इसमें पाच अणुव्रत और तीन गुणव्रत धारण करना तथा पौषध-उपवास करना।

३ सामायिक-प्रतिमा—इसका कालमान तीन मास का है। इसमे सामायिक और देशावकाशी व्रत धारण करना।

४ पौषध-प्रतिमा—इसका कालमान चार मास का है।

इसमें अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णमासी को प्रतिपूर्ण पौषध-व्रत का पालन करना।

५. कायोत्सर्ग-प्रतिमा—इसका कालमान पाँच मास का है। इसमे स्नान नही करना, रात्रि-भोजन नही करना, धोती की लाग नही देना, दिन मे ब्रह्मचारी रहना, रात्रि मे मैथुन का परिमाण करना।

६. ब्रह्मचर्य-प्रतिमा—इसका कालमान छह मास का है। इसमे सर्वथा शील पालना।

७. सचित्ताहारवर्जन-प्रतिमा—इसका कालमान सात मास का है। इसमे सचित्त आहार का परित्याग करना।

८. स्वयआरम्भवर्जन-प्रतिमा—इसका कालमान आठ मास का है। इसमे स्वयं आरम्भ-समारम्भ न करना।

९. प्रेष्यारम्भवर्जन-प्रतिमा—इसका कालमान नव मास का है। इसमे नौकर-चाकर आदि से आरम्भ-समारम्भ न करना।

१०. उद्दिष्टभक्तवर्जन-प्रतिमा—इसका कालमान दस मास का है। इसमे उद्दिष्ट भोजन का परित्याग करना, बालो का क्षुर से मुण्डन न करना अथवा शिखा धारण करना, घर सम्बन्धी प्रश्न करने पर —मै जानता हूँ या नही—इन दो वाक्यो से ज्यादा नही बोलना।

११. श्रमणभूत-प्रतिमा—इसका कालमान ग्यारह मास का है। इसमे क्षुर से मुण्डन न करना अथवा लुञ्चन करना और साधु का आचार, भण्डोपकरण एवं वेश धारण करना।

केवल जाति वर्ग से ही उसका प्रेम-बन्धन नही टूटता, इसलिए भिक्षा के लिए केवल जाति जनो में ही जाना।

असयम परित्यज्य, सयमस्तेन सेव्यताम्।
असयमो महद् दु ख, सयम सुखमुत्तमम्॥४३॥

इसलिए असयम को छोडकर सयम का सेवन करना चाहिए। असयम महान् दु ख है। सयम उत्तम सुख है।

पञ्चदश अध्याय

यावद् देहो भवेत्पुसा, तावत्कर्मापि जायते।
कुर्वन्नावश्यक कर्म, धर्ममप्याचरेद गृही ॥१॥

१ जब तक मनुष्य के शरीर होता है तब तक क्रिया होती है। आवश्यक क्रिया को करता हुआ मनुष्य धम का भी आचरण करे।

यथाहारादि कर्माणि भवन्त्यावश्यकानि च।
तथात्माराधन चापि, भवेदावश्यक परम् ॥२॥

२ जिस प्रकार भोजन आदि क्रियाए आवश्यक होती हैं उसी प्रकार आत्मा की साधना करना भी अत्यन आवश्यक होता है।

सद्य प्रात समुत्थाय स्मृत्वा च परमेष्ठिनम्।
प्रात कृत्यान्निवृत्त सन्, कुर्यादात्मनिरीक्षणम् ॥३॥

३ सबेरे जल्दी उठ कर नमस्कारमत्र का स्मरण कर शौच आदि प्रात कृत्य (सबेरे करने योग्य) कार्यों से निवृत्त होकर आत्म निरीक्षण करे।

सामायिक प्रकुर्वीत, समभावस्य लब्धये।
भावना भावयेत् पुण्या, सत्सकल्पान् समासजेत् ॥४॥

४ समभाव की प्राप्ति के लिए सामायिक (४८ मिनट तक सावद्य प्रवृत्ति का परित्याग) करे आत्मा को पवित्र भावनाओ से भावित करे और शुभ सकल्प करे।

स्थैर्यं प्रभावना भक्ति, कौशलं जिनशासने।
तीर्थसेवा च पञ्चास्य, भूषणं सम्यग् दृशो ध्रुवम् ॥५॥

५ धर्म मे स्थिरता, प्रभावना—धर्म का महत्त्व बढे वैसा कार्य करना, धर्म या धर्म गुरु के प्रति भक्ति रखना, जैन शासन में कौशल प्राप्त करना और तीर्थ सेवा—चतुर्विध सघ को धार्मिक सहयोग देना, ये पाच सम्यक्त्व के भूषण है।

भारवाही यथा श्वासान्, भाराक्रान्तोऽश्नुते यथा।
तथारम्भभाराक्रान्त, आश्वासान् श्रावकोऽश्नुते ॥६॥

६ जिस प्रकार भार से लदा हुआ भारवाहक विश्राम लेता है, उसी प्रकार आरम्भ (हिंसा) के भार से आक्रान्त श्रावक विश्राम लेता है।

इन्द्रियाणामधीनत्वाद्, वर्ततेऽवद्यकर्मणि।
तथापि मानसे खेद, ज्ञानित्वाद् वहते चिरम् ॥७॥

७ इन्द्रियों के अधीन होने के कारण वह पापकर्म–हिंसात्मक क्रिया मे प्रवृत्त होता है फिर भी ज्ञानवान होने के कारण वह उस कार्य मे आनन्द नही मानता किन्तु मन मे खिन्न रहता है।

आश्वास प्रथम सोऽयं, शीलादीन्प्रतिपद्यते।
सामायिक करोतीति, द्वितीय सोऽपि जायते ॥८॥

८ व्रत आदि स्वीकार करना श्रावक का पहला विश्राम है। सामायिक करना दूसरा विश्राम है।

प्रतिपूर्णं पौषधञ्च, तृतीय स्याच्चतुर्थकः।
सलेखना श्रितो यावज्जीवमनशनं सृजेत् ॥९॥

६ उपवासपूर्वक पौषध करना तीसरा विश्राम और सलेखना पूर्वक आमरण अनशन करना चौथा विश्राम है।

परिग्रह प्रहास्यामि, भविष्यामि कदा मुनिः।
त्यक्ष्यामि च कदाभक्त, ध्यात्वेद शोधयेन्निजम् ॥१०॥

१० मैं कब परिग्रह छोड़ूंगा, मैं कब मुनि बनूंगा, मैं कब भोजन का परित्याग करुगा—श्रावक इस प्रकार के चिन्तन से आत्मशोधन करे।

श्रमणोपासना कार्या, श्रवण तत्फल भवेत्।
तत सञ्जायते ज्ञान, विज्ञान जायते तत ॥११॥

११ श्रमण की उपासना करनी चाहिए। उपासना का फल धर्म श्रवण है। धर्म श्रवण से ज्ञान और ज्ञान से विज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रत्याख्यान ततस्तस्य, फल भवति सयम।
अनाश्रवस्तपस्तस्माद्, व्यवदानञ्च जायते ॥१२॥

१२ विज्ञान का फल प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान का फल सयम है। सयम का फल है अनाश्रव (कर्म-निरोध) अनाश्रव का फल तप और तप का फल है व्यवदान (कर्म निर्जरण)।

अक्रिया जायते तस्मान्निर्वाण तत्फल भवेत्।
महान्त जनयेल्लाभ, महता सगमो महान् ॥१३॥

१३. व्यवदान का फल है अक्रिया—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का निरोध और अक्रिया का फल है निर्वाण। इस प्रकार महापुरुष के ससर्ग से बहुत बडा हित होता है।

निश्चये व्रतमापन्नो, व्यवहारपटुर्नु ही।
समभावमुपासीनोऽनासक्त कर्मणीप्सते ॥१४॥

१४ जो गृहस्थ अन्तरग में व्रतयुक्त है और व्यवहार में पटु हैं वह समभाव की उपासना करता हुआ इष्ट कार्य में आसक्त नहीं होता।

अज्ञानकष्ट कुर्वाणा, हिंसया मिश्रित बहु।
मुमुक्षां दधतोऽप्येके, बध्यन्तेऽज्ञानिनो जना ॥१५॥

१५ अविवेक पूर्ण ढग से बहुत सारे हिंसा मिश्रित कष्टो को झेलने वाले अज्ञानी लोग मुक्त होने की इच्छा रखते हुए भी कर्मों से आबद्ध होते हैं।

कर्मकाण्डरता केचिद्, हिंसा कुर्वन्ति मानवा।
स्वर्गाय यतमानास्ते, नरक यान्ति दुस्तरम् ॥१६॥

१६ क्रियाकाण्ड में आसक्त होकर जो लोग हिंसा करते है वे स्वग प्राप्ति का प्रयत्न करते हुए भी दुस्तर नरक को प्राप्त होते है।

आत्मन सदृशा सन्ति, भेदो देहस्य दृश्यते।
आत्मनो ये जुगुप्सन्ते, महामोह व्रजन्ति ते ॥१७॥

१७ स्वरूप की दृष्टि से सब आत्माए समान हैं। उनमे केवल शरीर का अन्तर होता है। जो आत्माओ से घृणा करते हैं वे महामोह में फँस जाते है।

उच्चगोत्रो नीचगोत्र सामग्र्या कथ्यते जनै।
न हीनो नातिरिक्तश्च, कश्चिदात्मा प्रजायते ॥१८॥

१८ प्रशस्त सामग्री के प्राप्त होने से आत्मा उच्चगोत्र वाला और अप्रशस्त सामग्री के प्राप्त होने से वह नीचगोत्र वाला कहलाता है। वस्तुत कोई भी आत्मा किसी भी आत्मा से न उच्च है और न नीच।

प्रज्ञामद चैव तपोमदञ्च
निर्णामयेद् गोत्रमदञ्च धीर।
अन्य जन पश्यति बिम्बभूत
न तस्य जाति शरण कुल वा ॥१६॥

१६ धीर पुरुष वह होता है जो बुद्धि, तप और गोत्र के मद का उन्मूलन करे। जो दूसरे को प्रतिबिम्ब की भाँति तुच्छ मानता है उसके लिए जाति या कुल शरणभूत नही होते।

नात्मा शब्दो न गन्धोऽसौ रूप स्पर्शो न वा रस।
न वर्तुलो न वाच्यस्र, सत्ताऽरूपवती ह्यसौ ॥२०॥

२० आत्मा न शब्द है न गन्ध है न रूप है न स्पर्श है न रस है, न वर्तुल (गोलाकार) है और न त्रिकोण है। वह अमूर्त्त सत्ता द्रव्य है।

न पुरुषो नवापि स्त्री, नैवाप्यस्ति नपुसकम्।
विचित्रपरिणामेन, देहेऽसौ परिवर्तते ॥२१॥

२१ आत्मा न पुरुष है न स्त्री है और न नपुसक। वह विचित्र परिणतियो द्वारा शरीर मे परिवर्तित होता रहता है।

असवर्णं सवर्णो वा, नासौ क्वचन विद्यते।
अनन्तज्ञान-सम्पन्नो, सपर्येति शुभाशुभे ॥२२॥

२२ आत्मा न सवर्ण है और न असवर्ण। वह स्वरूप की दृष्टि से अनन्त ज्ञान से युक्त है। शुभ-अशुभ कर्मों के द्वारा बद्ध होने के कारण वह ससार में परिभ्रमण करता है।

गेहाद् गृहान्तर यान्ति, मनुष्या गेहवर्तिन ।
देहाद् देहान्तर यान्ति, प्राणिनो देहवर्तिन ।।२३।।

२३ घर में रहने वाले मनुष्य जैसे एक घर को छोड कर दूसरे घर में जाते है उसी प्रकार शरीर में रहने वाले प्राणी एक शरीर को छोड कर दूसरे शरीर मे जाते है।

नासौ नवो नवा जीर्णो, नवापि च पुरातन ।
आद्या द्रव्यार्थिकी दृष्टि, पर्यायार्थगतापरा ।।२४।।

२४ आत्मा न नया है और न पुराना—यह द्रव्यार्थिक दृष्टि है। आत्मा नया भी है और पुराना भी—यह पर्यायार्थिक दृष्टि है।

नवोपि च पुराणोऽपि, देहो भवति देहिनाम् ।
शैशव यौवन तत्र, वाधकञ्चापि जायते ।।२५।।

२५ जीवो का शरीर नया भी होता है और पुराना भी। शरीर में शैशव, यौवन और वाधक्य (बुढापा) भी होता है।

देहस्योपाधिभेदेन, योऽवात्मान जुगुप्सते ।
नात्मा तेनाववुद्धोऽस्ति, नात्मवादी स मन्यताम् ।।२६।।

२६ शरीर की भिन्नता होने के कारण जो दूसरे आत्मा से घृणा करता है उसने आत्मा को नही जाना। उसे आत्मवादी नही मानना चाहिए।

ये केचित् क्षुद्रका जीवा, ये च सन्ति महालयाः ।
तद्वधे सदृशो दोषोऽसदृशोवेति नो वदेत् ।।२७।।

२७ कई जीवो का शरीर छोटा होता है और कइयो का बडा। उन्हे मारने मे समान पाप होता है या असमान—इस प्रकार नही कहना चाहिये।

हन्तव्य मन्यसे य त्व स त्वमेवासि नापरः ।
यमाज्ञापयितव्यञ्च सत्वमेवासि नापरः ।।२८।।

२८ जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है। जिस पर तू अनुशासन करना चाहता है वह तू ही है।

परितापयितव्यं य स त्वमेवासि नापरः ।
यञ्च परिग्रहीतव्य स त्वमेवासि नापरः ।।२९।।

२९ जिसे तू सतप्त करना चाहता है वह तू ही है। जिसे तू दास-दासी के रूप मे अपने अधीन करना चाहता है वह तू ही है।

अपद्रावयितव्यं य स त्वमेवासि नापरः ।
अनुसवेदनं ज्ञात्वा हन्तव्य नाभिप्रार्थयेत् ।।३०।।

३० जिसे तू पीडित करना चाहता है वह तू ही है। सब जीवो मे सवेदन होता है—कष्टानुभूति होती है—यह जानकर किसीको मारने आदि की इच्छा न करे।

परिणामिनि विश्वेऽस्मिन्ननादि निधने ध्रुवम् ।
सर्वे विपरिवर्तन्ते चेतना अप्यचेतनाः ।।३१।।

३१ यह ससार नाना रूपो मे निरन्तर परिणमन-शील और आदि-अन्त रहित है। इसमे चेतन और अचेतन सब पदार्थों की अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं।

उत्पाद-व्ययधर्माणो, भावा ध्रौव्यान्विता अपि।
जीव - पुद्गलयोगेन, दृश्यं जगदिदं भवेत् ॥३२॥

३२ पदार्थ उत्पाद और व्यय धर्म वाले हैं। उनमें ध्रौव्य (नित्यता) भी है। यह दृश्य जगत् जीव और पौद्गल के सयोग से बनता है। जो दृश्य है वह जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न परिणति है।

आत्मा न दृश्यतामेति, दृश्यो देहस्य चेष्टया।
देहेऽस्मिन्, विनिवृत्ते तु, सद्योऽदृश्यत्वमृच्छति ॥३३॥

३३ आत्मा स्वय दृश्य नही है, वह शरीर की चेष्टा से दृश्य बनता है। शरीर की निवृत्ति होने पर वह तत्काल अदृश्य बन जाता है।

स्पर्शा रूपाणि गन्धाश्च रसा येन जिहासिताः।
आत्मा तेनैव लब्धोऽस्ति, स भवेदात्मवित् पुमान् ॥३४॥

३४ जिसने स्पर्श, रूप, गन्ध और रसो की आसक्ति को छोडना चाहा, आत्मा उसीको प्राप्त हुआ है और वही पुरुष आत्मा को जानने वाला है।

श्रुतवन्तो भवन्त्येके शीलवन्तोऽपरे जना.।
श्रुतशीलयुता, एके एके द्वाभ्यां विवर्जिताः ॥३५॥

३५ पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

(१) श्रुतवान् (ज्ञानवान्)
(२) आचारवान्,
(३) श्रुतवान् और आचारवान्,
(४) न श्रुतवान् और न आचारवान्।

श्रुतवान् मोक्षमार्गस्य देशेन स्याद् विराधकः।
शीलवान् मोक्षमार्गस्य देशेनाराधको भवेत् ।।३६।।

३६ जो पुरुष केवल श्रुतवान् होता है वह मोक्ष मार्ग का आंशिक रूप से विराधक होता है। जो पुरुष केवल आचारवान् होता है वह मोक्ष मार्ग का आंशिक रूप से आराधक होता है।

इद दर्शनमापन्नो मुच्यते नेति सगतम्।
श्रुतशील-समापन्नो मुच्यते नात्र सशय ।।३७।।

३७ कुछ लोगो का अभिमत है कि अमुक दर्शन को स्वीकार करने से व्यक्ति मुक्त हो जाता है किन्तु यह सगत नही है। सचाई यह है कि जो श्रुत और शील से युक्त होता है वह नि सन्देह मुक्त हो जाता है।

श्रुतशील समापन्नो सर्वथाऽऽराधको भवेत्।
द्वाभ्या विवर्जितो लोक सवथा स्याद् विराधक ।।३८।।

३८ जो श्रुत और शील से युक्त है वह मोक्ष मार्ग का सर्वथा आराधक है। जो श्रुत और शील दोनो से रहित है वह मोक्ष मार्ग का सवथा विराधक है।

वाच कायस्य कौकुच्य कन्दर्प विकथा तथा।
कृत्वा विस्मापयत्यन्यान् कान्दर्पी तस्य भावना ।।३९।।

३९ वाणी और शरीर की चपलता काम चेष्टा और विकथा के द्वारा जो दूसरो को विस्मित करता है, उस व्यक्ति की भावना 'कान्दर्पी' भावना कहलाती है।

मन्त्रयोगं भूतिकर्म प्रयुङ्क्ते सुखहेतवे।
अभियोगीं भवेत्तस्य भावना विषयैषिणः ॥४०॥

४०. विषय की गवेषणा करने वाला जो व्यक्ति सुख की प्राप्ति के लिए मंत्र और जादू-टोने का प्रयोग करता है, उसकी भावना 'आभियोगी' भावना कहलाती है।

ज्ञानस्य ज्ञानिनो नित्यं संघस्य धर्मसेविनाम्।
वदन्नऽवर्णनाप्नोति किल्विषीकीञ्च भावनाम् ॥४१॥

४१ ज्ञान, ज्ञानवान्, सघ और धार्मिको का जो अवर्णवाद (निन्दा) बोलता है, उसकी भावना 'किल्विषिकी' भावना कहलाती है।

अव्यवच्छिन्नरोषस्य, क्षमणाच्च प्रसीदतः।
प्रमादेनानुतपत, आसुरी भावना भवेत् ॥४२॥

४२ जिसका रोष निरन्तर बना रहता है, जो क्षमा,-याचना करने पर भी प्रसन्न नही होता और जो अपनी भूल पर अनुताप नही करत।, उसकी भावना 'आसुरी' भावना कहलाती है।

उन्मार्गदेशको मार्गनाशकश्चात्मघातकः।
मोहयित्वात्मनात्मानं, संमोही भावनां व्रजेत् ॥४३॥

४३ जो उन्मार्ग का उपदेश करता है, जो दूसरे को सन्मार्ग से भ्रष्ट करता है, जो आत्महत्या करता है और जो अपनी आत्मा से आत्मा को मोहित करता है उसकी भावना 'संमोही' भावना कहलाती है।

मिथ्यादर्शनमापन्नाः सनिदानाश्च हिंसकाः।
म्रियन्ते प्राणिनस्तेषां बोधिर्भवति दुर्लभा ॥४४॥

४४. जो मिथ्यादर्शन से युक्त है, जो भौतिक सुख की प्राप्ति का संकल्प करते है और जो हिंसक है उन्हे मृत्यु के बाद भी बोधि की प्राप्ति दुर्लभ होती है।

सम्यग्दर्शनमापन्नाः अनिदाना अहिंसकाः।
म्रियन्ते प्राणिनस्तेषां, सुलभा बोधिरिष्यते ॥४५॥

४५. जो सम्यग्दर्शन से युक्त है, जो भौतिक सुख का सकल्प नही करते और जो अहिंसक है उन्हे मृत्यु के उपरान्त भी बोधि सुलभ होती है।

अपापं हृदयं यस्य, जिह्वा मधुर भाषिणी।
उच्यते मधुकुम्भः स, नूनं मधुपिधातकः ॥४६॥

४६ जिस व्यक्ति का हृदय पाप रहित है और जिसकी जिह्वा मधुरभाषिणी है वह मधुकुम्भ है और मधु के ढक्कन से ढका हुआ है।

अपापं हृदयं यस्य, जिह्वा कटुकभाषिणी।
उच्यते मधुकुम्भः स, नूनं विषपिधातकः ॥४७॥

४७ जिस व्यक्ति का हृदय पाप रहित है, किन्तु जिसकी जिह्वा कटुभाषिणी है वह मधुकुम्भ है और विष के ढक्कन से ढका हुआ है।

सपापं हृदयं यस्य, जिह्वा मधुरभाषिणी।
उच्यते विषकुम्भः स, नूनं मधुपिधातकः ॥४८॥

४८ जिस व्यक्ति का हृदय पाप सहित है, किन्तु जिसकी जिह्वा मधुरभाषिणी है वह विषकुम्भ है और मधु के ढक्कनसे ढका हुआ है।

सपापं हृदयं यस्य, जिह्वा कटुकभाषिणी ।
उच्यते विषकुम्भः स, नूनं विषपिधायकः ॥४६॥

४६ जिस व्यक्ति का हृदय पाप सहित है और जिसकी जिह्वा कटुभाषिणी है वह विषकुम्भ है और विष के ढक्कन से ढका हुआ है।

रिक्तोदरतया मत्या, क्षुधावेद्योदयेन च।
तस्यार्थस्योपयोगेनाऽऽहारसंज्ञा प्रजायते ॥५०॥

५० खाने की इच्छा उत्पन्न होने के चार कारण हैं —
१ खाली पेट होना,
२ भोजन सम्बन्धी बातें सुनना तथा भोजन को देखना,
३ क्षुधा-वेदनीय कर्म का उदय,
४ भोजन का सतत चिन्तन करना।

हीनसत्त्वतया मत्या, भयवेद्योदयेन च।
तस्यार्थस्योपयोगेन, भयसंज्ञा प्रजायते ॥५१॥

५१ भय संज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती है —
१ बल की कमी,
२ भय सम्बन्धी बातें सुनना तथा भयानक दृश्य देखना;
३ भय-वेदनीय कर्म का उदय,
४ भय का सतत चिन्तन करना।

चितमांस-रक्ततया, मत्या मोहोदयेन च।
तस्यार्थस्योपयोगेन, मैथुनेच्छा प्रजायते ॥५२॥

५२ चार कारणों से मैथुन की इच्छा होती है —
१ मांस और रक्त की वृद्धि,

२. मैथुन सम्बन्धी बातें सुनना तथा मैथुन बढ़ाने वाले पदार्थों को देखना,
३. मोह-कर्म का उदय,
४. मैथुन का सतत चिन्तन करना।

अविमुक्ततया मत्या, लोभवेद्योदयेन च।
तस्यार्थस्योपयोगेन, संग्रहेच्छा प्रजायते ॥५३॥

५३. परिग्रह की इच्छा चार कारणों से उत्पन्न होती है—
१ अविमुक्तता—निर्लोभता न होना,
२ परिग्रह की बातें सुनना और धन आदि को देखना;
३ लोभ-वेदनीय कर्म का उदय,
४ परिग्रह का सतत चिन्तन करना।

कारुण्येन भयेनापि, संग्रहेणानुकम्पया।
लज्जया चापि गर्वेण, अधर्मस्य च पोषकम् ॥५४॥
धर्मस्य पोषकं चापि, कृतमितिधिया भवेत्।
करिष्यतीति बुद्धयापि, दानं दशविधं भवेत् ॥५५॥

५४-५५ दान दश प्रकार का होता है—
१. अनुकम्पा-दान—किसी व्यक्ति की दीनावस्था से द्रवित होकर उसके भरण-पोषण के लिए दिया जाने वाला दान;
२. संग्रह-दान—कष्ट में सहायता देने के लिए दान देना;
३. भय-दान—भय से दान देना;
४. कारुण्य-दान—शोक के सम्बन्ध में दान देना;
५. लज्जा-दान—लज्जा से दान देना;

६ गर्व-दान—यश-गान सुन कर एवं बराबरी की भावना से दान देना,

७ अधर्म-दान—हिंसा आदि पाँच आस्रव-द्वार सेवन के लिए दान देना,

८ धर्म-दान—प्राणी मात्र को अभय देना, सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्ति करवाना,

९. करिष्यति-दान—लाभ के बदले की भावना से दान देना,

१० कृत-दान—किए हुए उपकार को याद कर, दान देना।

धर्मो दशविधः प्रोक्तो मया मेघ! विजानता।
तत्र श्रुतञ्च चारित्रं, मोक्ष-धर्मो व्यवस्थितः ॥५६॥

५६ मेघ! मैंने दश प्रकार का धर्म कहा है—

१ ग्राम-धर्म—गाव की व्यवस्था (आचार-परम्परा),

२ नगर-धर्म—नगर की व्यवस्था (आचार-परम्परा),

३ राष्ट्र-धर्म—राष्ट्र की व्यवस्था (आचार-परम्परा),

४ पाखण्ड-धर्म—अन्य तीर्थिकों का धर्म,

५ कुल-धर्म—कुल का जो आचार होता है, वह कुल-धर्म है;

६ गण-धर्म—गण (कुल समूह) की जो समाचारी (आचार-मर्यादा) होती है, वह गण-धर्म है,

७. संघ-धर्म—संघ (गण-समूह) की जो समाचारी (आचार-मर्यादा) होती है, वह संघ-धर्म है,

८-९ श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म—आत्मा-उत्थान के हेतु (मोक्ष के उपाय) होने के कारण श्रुत अर्थात् सम्यक् ज्ञान औरचरित्र ये दोनो क्रमश श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म हैं,

१० अस्तिकाय-धर्म—पंचास्तिकाय का जो स्वभाव है, वह अस्तिकाय-धर्म है।

षोडश अध्याय

मेघ प्राह–

मन प्रसादमर्हामि, किमालम्बनमाश्रित ।
कथ प्रमादतो मुक्तिमाप्नोमि ब्रूहि मे विभो ! ॥१॥

१ मेघ बोला—विभो ! मैं किसे आलम्बन बना कर मानसिक प्रसाद को पा सकता हूँ। और मुझे बताइए कि मैं प्रमाद से मुक्त कैसे बन सकता हूँ।

भगवान् प्राह—

अनन्तानन्द-सम्पूर्ण आत्मा भवति देहिनाम।
तच्चित्तस्तन्मना मेघ !, तदध्यवसितो भव ॥२॥

२ भगवान् ने कहा—आत्मा अनन्त आनन्द से परिपूर्ण है। मेघ ! तू उसीमे चित्त को रमा उसीमें मन को लगा और उसीमें अध्यवसाय को संजोए रख।

तद् भावनाभावितश्च, तदर्थं विहितार्पण ।
भुञ्जानोऽपि च कुर्वाणस्तिष्ठन् गच्छस्तथा वदन् ॥३॥

३ मेघ ! जब जब तू खाए, कार्य करे ठहरे, चले और बोले तब-तब आत्मभावना से भावित बन और आत्मा के लिए सब कुछ समर्पित किए रह।

जीवंश्च म्रियमाणश्च, युञ्जानो विषयिव्रजम्।
तल्लेश्यो लप्स्यसे नूनं, मनःप्रसादमुत्तमम्॥४॥

४ तू जीवन काल में, मृत्युकाल में और इन्द्रियो का व्यापार करते समय आत्मा की लेश्या (भाव धारा) से प्रवाहित होकर उत्तम मानसिक-प्रसाद को प्राप्त होगा।

आत्मस्थित आत्महित, आत्मयोगी ततो भव।
आत्मपराक्रमो नित्यं, ध्यानलीनः स्थिराशयः॥५॥

५ तू आत्मा मे स्थित बन, आत्मा के लिए हितकर बन, आत्म-योगी बन, आत्मा के लिए पराक्रम करने वाला बन, ध्यान में लीन और स्थिर आशय वाला बन।

समितो मनसा वाचा, कायेन भव सन्ततम्।
गुप्तश्च मनसा वाचा, कायेन सुसमाहितः॥६॥

६ तू मन, वचन और काया से निरन्तर समित (सम्यक्-प्रवृत्ति करने वाला) बन तथा मन, वचन और काया से गुप्त और सुसमाहित बन।

अनुत्पन्नानकुर्वाणः, कलहांश्च पुराकृतान्।
नयन्नुपशम नून, लप्स्यसे मनसः सुखम्॥७॥

७ तू नये सिरे से कलहो को उत्पन्न मत कर और पहले किए हुए कलहो को उपशान्त कर, इस प्रकार तुझे मानसिक-सुख प्राप्त होगा।

क्रोधादीन् मानसान् वेगान्, पृष्ठमांसादनं तथा।
परित्यज्यासहिष्णुत्वं, लप्स्यसे मनसः स्थितिम्॥८॥

८ क्रोध आदि मानसिक वेगो, चुगली और असहिष्णुता को छोड, इस प्रकार तुझे मन की स्थिरता प्राप्त होगी।

पादयुग्मञ्च सहृत्य, प्रसारितभुजोभय ।
ईषन्नत स्थिरदृष्टिर्लप्स्यसे मनसो धृतिम् ।।९।।

९ दोनो पैरो को सटा कर दोनो भुजाओ को फैला कर थोडा झुक कर तथा दृष्टि को स्थिर बना इस प्रकार तुझे मानसिक-धैर्य प्राप्त होगा।

प्रयत्न नाधिकुर्वाणोऽलब्धांश्च विषयान् प्रति।
लब्धान् प्रतिविरज्यश्च, मनस स्वास्थ्यमाप्स्यसि ।।१०।।

१० अप्राप्त विषयो पर अधिकार करने का प्रयत्न मत कर और प्राप्त विषयो से विरक्त बन इस प्रकार तुझे मानसिक-स्वास्थ्य प्राप्त होगा ।

अमनोज्ञ-सप्रयोगे, नार्तं ध्यायन् कदाचन।
मनोज्ञ-विप्रयोगे च, मनस स्वास्थ्यमाप्स्यसि ।।११।।

११ अमनोज्ञ विषयो का सयोग होने पर और मनोज्ञ विषयो का वियोग होने पर तू आर्त्तध्यान मत कर (अपने मानस को चिन्ता से पीडित मत बना), इस प्रकार तुझे मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

रोगस्य प्रतिकाराय, नार्तं ध्यायस्तथा त्यजन्।
फलाशां भोगसकल्पान् मनस स्वास्थ्यमाप्स्यसि ।।१२।।

१२ रोग के उत्पन्न होन पर चिकित्सा के लिए आर्त्तध्यान मत कर तथा भौतिक फल की आशा और भोग-विषयक सकल्पो को छोड इस प्रकार तुझे मानसिक-स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

शोकं भयं घृणां द्वेषं, विलापं क्रन्दनं तथा।
त्यजाज्ञानजान् दोषान्, मनसः स्वास्थ्यमाप्स्यसि ॥१३॥

१३ शोक, भय, घृणा, द्वेष, विलाप, क्रन्दन और अज्ञान से उत्पन्न होने वाले दोषों को तू छोड इस प्रकार तुझे मानसिक-स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

लब्धानां नाम भोगानां, रक्षणायाचरेज्जनः।
हिंसां मृषा तथाऽदत्तं, तेन रौद्रः स जायते ॥१४॥

१४ मनुष्य प्राप्त भोगो की रक्षा के लिए हिंसा, असत्य और चोरी का आचरण करता है और उससे वह रौद्र बनता है।

तथा विधस्य जीवस्य, चित्तस्वास्थ्यं पलायते।
संरक्षणमनादृत्य, मनसः स्वास्थ्यमाप्स्यसि ॥१५॥

१५ जो मनुष्य रौद्र होता है उसका मानसिक-स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। तू भोगो की रक्षा का प्रयत्न मत कर, इस प्रकार तुझे मानसिक-स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

रागद्वेषौ लयं यातौ, यावन्तौ यस्य देहिनः।
सुखं मानसिकं तस्य, तावदेव प्रजायते ॥१६॥

१६ जिस मनुष्य के राग-द्वेष का जितनी मात्रा में विलय होता है उसे उतना ही मानसिक-सुख प्राप्त होता है।

वीतरागो भवेल्लोको, वीतरागमनुस्मरन्।
उपासकदशां हित्वा, त्वमुपास्यो भविष्यसि ॥१७॥

१७ जो पुरुष वीतराग का स्मरण करता है वह स्वयं वीतराग

बन जाता है। वीतराग का स्मरण करने से तू उपासक-दशा को छोड़ कर स्वयं उपास्य (उपासना करने योग्य) बन जाएगा।

इन्द्रियाणि च संयम्य, कृत्वा चित्तस्य निग्रहम्।
संस्पृशन्नात्मनात्मानं, परमात्मा भविष्यसि ॥१८॥

१८ इन्द्रियों का संयम कर चित्त का निग्रह कर, आत्मा से आत्मा का स्पर्श कर इस प्रकार तू परमात्मा बन जाएगा।

यल्लेश्यो म्रियते लोकस्तल्लेश्यश्चोपपद्यते।
तेन प्रतिपलं मेघ! जागरूकत्वमर्हसि ॥१९॥

१९ यह जीव जिस लेश्या (भावधारा) में मरता है उसी लेश्या (उसी भाव धारा की अनुरूप गति) में उत्पन्न होता है। इसलिए हे मेघ! तू प्रतिपल आत्म जागरण में जागरुक बन।

जीवनस्य तृतीयेऽस्मिन् भागे प्रायेण देहिनाम्।
आयुषो जायते बन्ध, शेषे तृतीयकल्पना ॥२०॥

२० सोपक्रम (किसी निमित्त से आयु की अवधि अल्प हो जाती है, वैसी) आयु वाले जीवों के जीवन के तीसरे भाग में नरक आदि आयु में से किसी एक आयु का बन्धन होता है। जीवन के तीसरे भाग में आयु का बन्धन न हुआ हो तो फिर तीसरे भाग के तीसरे भाग में आयु का बन्धन होता है। उसमें भी बन्धन न हुआ हो तो फिर अवशिष्ट के तीसरे भाग में आयु का बन्धन होता है। इस प्रकार जो आयु शेष रहती है उसके तीसरे भाग में आयु का बन्धन होता है।

तृतीयो नाम को भागो नेति विज्ञातुमर्हसि।
सर्वदा भव शुद्धात्मा, तेन यास्यसि सद्गतिम् ॥२१॥

२१. जीवन का तीसरा भाग कौन सा है इसे तू जान नही सकता। इसलिए सर्वदा अपनी आत्मा को शुद्ध रख, इस प्रकार तू सद्गति को प्राप्त होगा।

कृष्णा नीला च कापोती, पापलेश्या भवन्त्यमूः।
तैजसी पद्मशुक्ले च, धर्मलेश्या भवन्त्यमूः ॥२२॥

२२ पाप-लेश्याएं तीन हैं—कृष्ण, नील और कापोत। धर्म-लेश्याएं भी तीन हैं—तैजस, पद्म और शुक्ल।

तीव्रारम्भ-परिणत, क्षुद्र- साहसिकोऽयतिः।
पञ्चाश्रव-प्रवृत्तश्च, कृष्णलेश्यो भवेत् पुमान् ॥२३॥

२३ जो तीव्र हिंसा में परिणत है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करता है, भोग से विरत नही है और पाँच आश्रवो मे प्रवृत्त है वह व्यक्ति कृष्ण-लेश्या वाला होता है।

ईर्ष्यालुर्द्वेषमापन्नो, गृद्धिमान् रसलोलुप.।
अह्रीकश्च प्रमत्तश्च, नीललेश्यो भवेत् पुमान् ॥२४॥

२४ जो ईर्ष्यालु है, द्वेष करता है, विषयो मे आसक्त है, सरस आहार मे लोलुप है, लज्जाहीन और प्रमादी है वह व्यक्ति नील-लेश्या वाला होता है।

वक्रो वक्रसमाचारो, मिथ्यादृष्टिश्च मत्सरी।
औपधिको दुष्टवादी, कापोतीमाश्रितो भवेत् ॥२५॥

२५ जिसका चिन्तन, वाणी और कर्म कुटिल होता है, जिसकी दृष्टि मिथ्या है, जो दूसरे के उत्कर्ष को सहन नहीं करता, जो दम्भी

है और जो दुर्वचन बोलता है वह व्यक्ति कापोत - लेश्या वाला होता है।

विनीतोऽचपलोऽमायी, दान्तश्चावद्यभीरुक ।
प्रियधर्मा दृढधर्मा, तैजसीमाश्रितो भवेत् ।।२६।।

२६ जो विनीत है जो चपलता रहित है जो सरल है, जो इन्द्रियों का दमन करता है, जो पापभीरु है, जिसे धर्मप्रिय है और जो धर्म मे दृढ है वह व्यक्ति तैजस-लेश्या वाला होता है।

तनुतमक्रोध-मान-माया-लोभो जितेन्द्रिय ।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, पद्मलेश्यो भवेत् पुमान् ।।२७।।

२७ जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत अल्प है जो जितेन्द्रिय है, जिसका मन प्रशांत है और जिसने आत्मा का दमन किया है वह व्यक्ति पद्म-लेश्या वाला होता है ।

आर्त्तरौद्रे वर्जयित्वा, धर्म्यशुक्ले च साधयत।
उपशान्त. सदागुप्त, शुक्ललेश्यो भवेत् पुमान् ।।२८।।

२८ जो आर्त्त और रौद्र ध्यान का वर्जन करता है, जो धर्म और शुक्ल ध्यानकी साधना करता है जो उपशान्त है और जो निरन्तर मन, वचन और काया से गुप्त है वह व्यक्ति शुक्ल-लेश्या वाला होता है।

लेश्याभिरप्रशस्ताभिर्मुमुक्षो ! दूरतो व्रज।
प्रशस्तासु च लेश्यासु, मानस स्थिरतां नय ।।२९।।

२९ हे मुमुक्षु ! तू अप्रशस्त (पाप) लेश्याओ से दूर रह और प्रशस्त (धर्म) लेश्याओ में मन को स्थिर बना।

अपकारापकारौ च विपाक श्रवनं तथा।
कुरुष्व धर्ममालम्ब्य क्षमां पञ्चावलम्बनम् ॥३०॥

३० पाँच कारणो से मुझ क्षमा का सेवन करना चाहिए। वे पाँच ये ह —

(१) इसने मेरा उपकार किया है इसलिए इसके कथन या प्रवत्ति पर मुझे क्रोध नहीं करना चाहिये—मुझे क्षमा रखनी चाहिय ।

(२) क्षमा नही रखन से अर्थात क्रोध करन से मेरी आत्मा का अपकार—अहित होता है इसलिए मुझ क्षमा रखनी चाहिए।

(३) क्रोध का परिणाम बडा दु खद होता है इसलिए मुझ क्षमा रखनी चाहिए।

(४) आगम की वाणी है कि क्रोध नही करना चाहिये इसलिए मुझ क्षमा रखनी चाहिए ।

(५) क्षमा मेरा धम है इसलिए मझे क्षमा रखनी चाहिए।

आजव वपुषो वाचो मनस सत्यमच्यते।
अविसम्वाद योगश्च तत्र स्थापय मानसम ॥३१॥

३१ काया वचन और मन की जो सरलता है वह सत्य है। कहनी और करनी की समानता है वह सत्य है । उस सत्य मे तू मन को रमा ।

अश्रद्धानं प्रवचन परलाभस्य तकणम।
आशसन च कामानां स्नानादिप्रार्थन तथा ॥३२॥
एतैश्च हेतुभिश्चित्तमुक्त्वाचवं प्रधारयन।
निर्ग्रन्थो घातमाप्नोति दु खशय्यां प्रकल्पयि ॥३३॥

३२-३३. मुनि के लिए चार दुःख-शय्याए (दु ख देनेवाली शय्याए) बतलाई गई है —

१ निर्ग्रन्थ प्रवचन में अश्रद्धा करना,

२ दूसरे श्रमणो द्वारा भिक्षा की चाह रखना,

३ काम भोगो की इच्छा करना;

४ स्नान आदि की अभिलाषा करना।

इन कारणो से साधु का चित्त अस्थिर बनता है और वह सयम की हानि को प्राप्त होता है, अत निर्ग्रन्थ के लिए ये चार दु ख-शय्याए है।

श्रद्धाशील: प्रवचने, स्वलाभे तोषमाश्रित:।
अनाशसा च कामानां, स्नानाद्यप्रार्थनं तथा ।।३४।।
एतैश्च हेतुभिश्चित्तमुच्चावचमधारयन्।
निर्ग्रन्थो मुक्तिमाप्नोति, सुखशय्या व्रजत्यपि ।।३५।।

३४-३५ मुनि के लिए चार सुख-शय्याएँ (सुख देने वाली शय्याएँ) बतलाई गई है—

१ निर्ग्रन्थ प्रवचन मे श्रद्धा करना,

२ भिक्षा मे जो वस्तुए प्राप्त हो उन्ही मे सन्तुष्ट रहना;

३ काम भोगो की इच्छा न करना,

४ स्नान आदि की अभिलाषा न करना।

इन कारणो से साधु का चित्त स्थिर बनता है और वह मुक्ति को प्राप्त होता है, अत निर्ग्रन्थ के लिए ये चार सुख-शय्याए है।

दुष्टा व्युत्पादिता मूढा, दु:सज्ञाप्या भवन्त्यमी।
सुसज्ञाप्या भवन्त्यन्ये, विपरीता इतो जनाः ।।३६।।

३६ तीन प्रकार के व्यक्ति दुःसंज्ञाप्य (जिन्हें समझाया न जा सके वैसे) होते हैं—

१ दुष्ट, २ व्युद्ग्राहित–दुराग्रही, ३ मूढ ।
इनसे भिन्न प्रकार के व्यक्ति सुसंज्ञाप्य (जो समझाए जा सकें वैसे) होते हैं ।

पूर्वं कुग्राहिताः केचिद्, बालाः पण्डितमानिनः ।
नेच्छन्ति कारणं श्रोतुं, द्वीपजाता यथा नराः ॥३७॥

३७ जो पूर्वाग्रह रखते है और जो अज्ञानी होने पर भी अपने को पण्डित मानते हे वे अशिष्ट पुरुषो की भाँति बोधि के कारण को सुनना नही चाहते ।

उपदेशमिमं श्रुत्वा, प्रसन्नात्मा महामनाः ।
मेघः प्रसन्नया वाचा, तुष्टुवे परमेष्ठिनम् ॥३८॥

३८ महामना मेघ यह उपदेश सुन बहुत प्रसन्न हुआ और बडी प्राञ्जल वाणि से भगवान् महावीर की स्तुति करने लगा ।

सर्वज्ञोऽसि सर्वदर्शी, स्थितात्मा धृतिमानसि ।
अनायुरभयो ग्रन्थातीतोऽसि भवान्तकृत् ॥३९॥

३९ मेघ ने कहा—आर्य ! आप सर्वज्ञ हे, सर्वदर्शी है, स्थितात्मा हे, धैर्यवान् हैं, अमर है, अभय हैं, राग-द्वेष की ग्रथियों से रहित हैं और ससार का अन्त करने वाले हैं ।

पश्यतामुत्तमं चक्षुर्ज्ञानिनां ज्ञानमुत्तमम् ।
तिष्ठतां स्थिरभावोऽसि, गच्छतां गतिरुत्तमा ॥४०॥

४०. आप देखने वालों के लिए चक्षु हैं । ज्ञानियों के लिए उत्तम

ज्ञान है। ठहरने वालो के लिए स्थान है और चलनेवालो के लिए उत्तम गति है।

शरण चास्य बन्धूना, प्रतिष्ठा चलचेतसाम्।
पोतश्चासि तितीर्षूणां, श्वास प्राणभृता महान्॥४१॥

४१ आप अशरणो के शरण है। अस्थिर चित्त वाले मनुष्यो के लिए प्रतिष्ठान हैं। ससार से पार होने वालो के लिए नौका है और प्राण-धारियो के आप श्वास है।

तीर्थनाथ! त्वया तीर्थमिदमस्ति प्रवर्तितम्।
स्वयसम्बुद्ध! सम्बुद्धधा, बोधित सकल जगत्॥४२॥

४२ हे तीर्थनाथ! आपने इस चतुर्विध सघ का प्रवर्तन किया। हे स्वयसबुद्ध! आपने अपने ज्ञान से समस्त ससार को जागृत किया है।

अहिंसाराधना कृत्वा, जातोऽसि पुरुषोत्तम।
जात पुरुषसिंहोऽसि, भयमुत्सार्य सर्वथा॥४३॥

४३ भगवन्! आप अहिंसा की आराधना कर पुरुषोत्तम बने हैं भय को सर्वथा छोड पुरुषो मे सिंह के समान पराक्रमी बने है।

पुरुषेषु पुण्डरीक, निर्लेपो जातवानसि।
पुरुषेषु गन्धहस्ती, जातोऽसि गुणसम्पदा॥४४॥

४४ निर्लेप होने के कारण आप पुरुषो में पुण्डरीक-कमल के समान हैं। गुण सम्पदा से समृद्ध होने के कारण आप पुरुषो में गन्धहस्ती के समान है।

लोकोत्तमो लोकनाथो, लोकद्वीपोऽभयप्रद: ।
दृष्टिदो मार्गद: पुंसां, प्राणदो बोधिदो महान् ।।४५।।

४५ भगवन् ! आप ससार में उत्तम हैं, ससार के एकमात्र नेता है, ससार में द्वीप हैं, अभयदाता हैं, दृष्टि देनेवाले हैं, मार्ग देने वाले हैं, प्राण और बोधि देने वाले हैं।

धर्मवरचातुरन्त-चक्रवर्ती महाप्रभ. ।
शिवोऽचलोऽक्षयोऽनन्तो, धर्मदो धर्मसारथि: ।।४६।।

४६ प्रभो ! आप धर्म-चक्रवर्ती हैं। महान् प्रभाकर हैं, शिव हैं, अचल हे अक्षय हैं, अनन्त है, धर्म का दान करनेवाले हैं और धर्म-रथ के सारथि है।

जिनश्च जापकश्चासि, तीर्णस्तथासि तारक: ।
बुद्धश्च बोधकश्चासि, मुक्तस्तथासि मोचक. ।।४७।।

४७ प्रभो ! आप आत्म-जेता हैं और दूसरो को विजयी बनाने वाले है। स्वय ससार सागर से तर गए हैं, दूसरो को उससे तारने वाले हे। आप बुद्ध हे, दूसरो को बोधि देने वाले हे, स्वय मुक्त है, दूसरो को मुक्त करनेवाले हैं।

निर्ग्रन्थानामधिपते:, प्रवचनमिद महत् ।
प्रतिबोधश्च मेघस्य, शृणुयाच्छ्रद्दधीत य. ।।४८।।
निर्मला जायते दृष्टिर्मर्त्य. स्याद् दृष्टिमागत: ।
मोहश्च विलयं गच्छेद्विलसितस्य प्रजायते ।।४९।।

४८-४९ निर्ग्रन्थो के अधिपति भगवान् महावीर के इस महान् प्रवचन को और मेघकुमार के प्रति बोध को जो सुनता है, श्रद्धा

रखता है, उसकी दृष्टि निर्मल होती है, उसे सम्यक्-चर्या होती है, मोह के बन्धन टूट जाते हैं और वह मुक्त बन जाए

प्रशस्ति :

तवैवालोकोऽयं प्रसृत इह शब्देषु सततं
तवैवा पुण्यानीरमलसम-भावानुपमता ।
प्रभो ! शब्दैस्त्वामिकृपि सुलभैः संस्कृतमयै-
स्तवैषाऽऽलोकाय प्रभवतु जनानां सुमनसाम् ॥१॥

दीपावल्याः पावने पर्वणीह
निर्वाणस्यानुत्तरे वासरेऽस्मिन् ।
निर्ग्रन्थानां स्वामिनो ज्ञातसूनो-
रर्चां कृत्वा मोदते नत्थमल्लः ॥२॥

विक्रम द्विसहस्राब्दे, पावने षोडशोत्तरे ।
कलकत्ता - महापुर्यां, सम्बोधिश्च प्रपूरिता ॥३॥

आचार्यवर्य तुलसी चरणाम्बुजेषु,
वृत्ति व्रजन् मधुकृतो मधुरामगम्याम् ।
भिक्षोरनन्त-सुकृतोन्नत-शासनेऽस्मिन्,
मोदैः प्रकाशमतुलं प्रसजन्नमोघम् ॥४॥